...य

...रक्षण तथा प्रसार।

...विवेचन।

...अनुसंधान।

...और कला का पर्यालोचन।

...ह पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६९
संवत् २०२१
अंक ४

वार्षिक मूल्य रु० १०.००
इस अंक का २॥)

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

विषयसूची

लेख

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६९] माघ, संवत् २०२१ [अंक ४

वैदिक साहित्य में संन्यास की परंपरा

[डा० इंद्रचंद्र शास्त्री]

भारतीय संस्कृति दो परंपराओं की देन है। एक ओर मोक्ष को जीवन का लक्ष्य माननेवाली श्रमण परंपरा है, और दूसरी ओर अभ्युदय या ऐहिक उन्नति को लक्ष्य माननेवाली ब्राह्मण परंपरा। दोनों में टक्करें हुई, समझौते हुए और परस्पर प्रभाव पड़ा। वर्तमान हिंदू धर्म उसी संमिश्रण का परिणाम है। इन परंपराओं के परस्पर भेद और आदान प्रदान की चर्चा अत्यंत रोचक है। यहाँ मुनि धर्म से संबंधित कुछ बातों का निरूपण किया जाएगा।

वर्तमान हिंदू धर्म के मुख्य दो तत्व माने जाते हैं, वर्णधर्म और आश्रमधर्म इन्हीं को वैदिक या श्रौत-स्मार्त-धर्म कहा जाता है। श्रमण परंपरा इसके विपरीत न वर्णधर्म को मानती है और न आश्रमधर्म को। वैदिक परंपरा मुख्यतया समाजलक्ष्यी रही है, वर्णों और आश्रमों का विभाजन उसी की व्यवस्था के लिये किया गया। इसके विपरीत श्रमण परंपरा व्यक्तिलक्ष्यी रही है वहाँ वैयक्तिक विकास पर बल दिया गया। उसके लिये सामाजिक उत्तरदायित्व की अधिक चिंता नहीं की गई। वैदिक परंपरा का मुख्य बल गृहस्थ आश्रम पर रहा है। ब्रह्मचर्य को उसकी तैयारी के रूप में स्वीकार किया गया और वानप्रस्थ को जीवनसंघर्ष से निवृत्त होने के लिये। वह जीवनसाधना का अंग न होकर एक प्रकार की विश्रांति है। संन्यास का वैदिक साहित्य में वर्णन नहीं है, इसके विपरीत

श्रमण परंपरा में संन्यास साधना का सर्वोच्च स्तर है। गृहस्थाश्रम उद्दाम वृत्तियों को शांत करने के लिये एक प्रकार की सुविधा है। जो व्यक्ति पूर्ण संयम का पालन नहीं कर सकता, उसके लिये विधान किया गया है कि वह अपनी पाशविक वृत्तियों को शात करने के लिये मर्यादा स्थिर करे। उसे उत्तरोत्तर संकुचित करता हुआ संयम या पूर्ण त्याग के लक्ष्य पर पहुँच जाए। वानप्रस्थ उसी की तैयारी है और संन्यास चरम लक्ष्य। श्रमण परंपरा यह आवश्यक नहीं मानती कि संन्यास से पहले गृहस्थ तथा वानप्रस्थ होना आवश्यक है। वैराग्य होने पर किसी भी अवस्था मे संन्यास लिया जा सकता है। इसी आधार पर श्वेताश्वतर उपनिषद् में श्रमणों को अत्याश्रमी कहा गया है।

आश्रम शब्द का अर्थ

साधारणतया आश्रम शब्द का अर्थ शात वातावरण में बना हुआ विश्राम-स्थान किया जाता है। किंतु यह वास्तविक अर्थ नहीं है। आश्रम शब्द 'श्रम' धातु से बना है, जिसका अर्थ है परिश्रम करना। आ उपसर्ग मर्यादा का द्योतक है; अपनी अपनी मर्यादा मे रहकर सामाजिक उन्नति के लिये किया जानेवाला प्रयत्न ही आश्रम है। श्रमण शब्द मे भी यही धातु है, किंतु यहाँ मर्यादा का बंधन नहीं है। इस प्रकार जीवनसाधना दो रूपों में विभक्त हो गई, एक ओर परंपरागत मर्यादाओं का पालन करनेवाली वैदिक साधना थी और दूसरी ओर उच्चतम लक्ष्य के लिये उसकी परवाह न करनेवाली श्रमण साधना।

वैदिक आर्यों में आश्रम व्यवस्था का क्या रूप था, इस विषय को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है। ज्ञात होता है, जीवन का तीन अवस्थाओं में विभाजन प्राचीन काल से चला आ रहा है। पारसियों का धर्मग्रंथ अवेस्ता, आर्य जाति के प्राचीनतम रूप को प्रकट करता है। उसमें भी यह विभाजन मिलता है, जो पारसी जाति में अब तक प्रचलित है। वैदिक साहित्य में भी तीनों का वर्णन है। प्राचीन उपनिषदों में कहीं दो और कहीं तीन का उल्लेख आता है। छांदोग्य उपनिषद् १५. १ में उल्लेख है कि गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह भी उल्लेख है कि गुरु के पास वेदाध्ययन करने के पश्चात् सारा जीवन वेदाध्ययन, संतान और शिष्यों को धर्मशिक्षा देने, इंद्रियदमन तथा अहिंसा की साधना में व्यतीत करना चाहिए। साथ ही यह भी बताया गया है कि वेदविहित हिंसा उसके लिये वर्जित नहीं है। इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्राचीन उपनिषदों में वानप्रस्थ और संन्यासी में कोई भेद नहीं किया गया है। दोनों अवस्थाओं में त्याग की प्रधानता रही है, अतः दोनों के लिये मुनि एवं यति शब्द का प्रयोग होता रहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य का वर्णन आया है। दो पत्नियों के होने पर भी वे ब्रह्मवादी थे। जब उन्होने घर छोड़ना चाहा तो पत्नियों को बुलाकर संपत्ति का बँटवारा करने के लिये कहा। कात्यायनी ने अपना भाग ले लिया। मैत्रेयी ने उनसे पूछा—"क्या इस संपत्ति से मैं अमर हो जाऊँगी?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'नहीं। इससे इतना ही हो सकता है कि निर्वाह के लिये किसी भी कमी न रहे, किंतु धन से अमर होने की आशा नहीं की जा सकती।" मैत्रेयी ने उसे अस्वीकार कर दिया और कहा—"मुझे तो वह बात बताइए जिससे मैं अमर हो जाऊँ।" इसपर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इस कथानक से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य गृहस्थ होने पर भी ब्रह्मवेत्ता थे। इसी प्रकार जनक, रैक्व आदि अनेक व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं।

जैनधर्म में सिद्धों के १५ भेद हैं। उनसे ज्ञात होता कि गृहस्थ वेश में रहते हुए भी कैवल्य प्राप्त हो सकता है। मरुदेवी माता तथा भरत चक्रवर्ती आदि के उदाहरण भी इस बात का समर्थन करते हैं। फिर भी उचित वैराग्य का होना आवश्यक माना गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् कोई भी गृहस्थ नहीं रहा। या तो वह मुनि हो गया या मृत्यु हो गई। इसके विपरीत वैदिक परंपरा में ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी व्यक्ति गृहस्थ जीवन को नहीं छोड़ता। उस अवस्था में भी उसे ऋषि कहा गया है।

वैदिक परंपरा में सामाजिक उत्तरदायित्व का निभाना आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है, इसलिये वहाँ संन्यास को अच्छा नहीं समझा गया। ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जो संन्यास का साक्षात् विरोध न करने पर भी यावज्जीवन गार्हस्थ्य के समर्थक हैं। शतपथ ब्राह्मण में आया है—"एतद्वै जरामर्यं सत्रंयद् अग्निहोत्रम्"—अर्थात् अग्निहोत्र एक ऐसा सत्र है जो मृत्यु पर्यंत चलता रहता है। तैत्तरीयोपनिषद् में आया है—"आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातंतुंमा व्यवच्छेत्सी:'। गुरु अपने शिष्य को अध्ययन पूरा कर लेने पर उपदेश देता है—'आचार्य को दक्षिणा के रूप में उचित धन देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना। संतान के धागे को टूटने न देना। यहाँ गुरु का संकेत संन्यास न ग्रहण करने की ओर है।

ईशावास्य उपनिषद् में आया है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'—अर्थात् व्यक्ति को कर्म करते हुए चिरकाल तक जीने की इच्छा करनी चाहिए।

आपस्तंब धर्मसूत्र मे बताया गया है कि ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए और सारा जीवन उसी में व्यतीत करना चाहिए।

महाभारत (द्वादश, १०) में संन्यास के संबंध में एक रोचक संवाद है। युद्ध से युधिष्ठिर का मन खिन्न हो गया और उसने संन्यासी बनने का निश्चय कर लिया। द्रौपदी तथा भाइयों ने उसे मनाना चाहा। भीम की युक्तियाँ विशेष रोचक हैं—

आपत्काले हि संन्यासः कर्त्तव्य इति शिष्यते।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा॥

शास्त्र का उपदेश है कि आपत्तिकाल में, बुढ़ापे से जर्जर हो जाने पर अथवा शत्रुओं द्वारा धन संपत्ति से वंचित कर दिए जाने पर मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए।

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यंते सूक्ष्मदर्शिनः॥

अतः विद्वान् पुरुष ऐसे अवसर में त्याग या संन्यास की प्रशंसा नहीं करते। सूक्ष्मदर्शी पुरुष तो ऐसे समय में क्षत्रिय के लिये संन्यास लेना उलटे धर्म का उल्लंघन मानते हैं—

श्रियाविहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम्॥

वेदवाक्य की यह शिक्षा मिथ्या होने पर भी सत्य सी प्रतीत होती है। इसे लक्ष्यरहित निर्धन नास्तिकों ने चलाया है।

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम्॥

धर्म के बहाने मौन लेकर बैठ जाना और पेट भरते रहना जीवन नहीं, पतन है।

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम्।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन्॥

पुत्र, पौत्र, देवता, ऋषि, अतिथि तथा पितरों के प्रति अपने कर्तव्य को छोड़कर वन में चले जाना और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना कोई कठिन कार्य नहीं है।

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥

यदि राजा को संन्यास से सिद्धि प्राप्त होती हो तो पर्वत और वृक्षों को शीघ्र सिद्धि मिल जाना चाहिए।

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यंते निरुपद्रवाः
अपरिग्रहवंतश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥

क्योंकि ये सदा संन्यास धारण किए रहते हैं, किसी को कष्ट नहीं देते, परिग्रह नहीं रखते तथा सदा ब्रह्मचारी रहते हैं।

– महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय १०, श्लोक १७, १८, २०, २२, २४, २५।

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि संन्यास किसी ऐसी वेदविरोधी परंपरा की देन है, जो वैदिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करती थी। अर्जुन ने अगले अध्याय में जो युक्तियाँ दी हैं उनसे भी इसी बात का समर्थन होता है। वहाँ उसने एक कथा उद्धृत की है: प्राचीन समय की बात है, बहुत से ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करके संन्यासी हो गए। इंद्र ने उनकी निंदा की और गृहस्थ बना दिया। महाभारत के इन अध्यायों में संन्यास को नास्तिक्य कहा गया है। इंद्र और ब्राह्मणों की कथा इस बात को प्रकट करती है कि उस समय संन्यास अनादर की दृष्टि से देखा जाता था।

अथर्ववेद २।५।३ में इंद्र द्वारा यतियों की हत्या का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण ७।२८ तथा पंचविंश ब्राह्मण ८।४।१७ एवं ८।१।४ में भी उल्लेख है। किंतु ऋग्वेद ८।१७।१४ में इंद्र को 'मुनीनां सखा' कहा गया है। पंचविंश ब्राह्मण में भी इसी बात को प्रकट किया गया है। वहाँ यह बताया गया है कि मुनिमरण नामक स्थान में असुरों ने बहुत से मुनियों को मार डाला। इंद्र ने उन्हें पुनः जीवन प्रदान किया। ऐतरेय ब्राह्मण में यह भी आया है कि यतियों को मारने के कारण इंद्र को बहिष्कृत कर दिया गया।

इन उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद में इंद्र मुनियों का मित्र है और अथर्ववेद में यतियों का मारनेवाला। पंचविंश ब्राह्मण के अनुसार वह वैखानसों को पुनर्जीवन प्रदान करता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसे यतियों की हत्या के अपराध में सोमपान से बहिष्कृत कर दिया गया।

श्रमण शब्द के विषय में भी कुछ बातें जाननी आवश्यक हैं। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमण ब्राह्मण (समणा माहणा) शब्द इकट्ठे आते हैं और वे

चरित्रसंपन्न धर्मात्मा व्यक्ति के सूचक हैं। अशोक के शिलालेखों[1] में भी श्रमण शब्द का उल्लेख है। यूनानी इतिहासकार मैगस्थनीज ने उनका निर्देश इस प्रकार किया है[2]—जिन श्रमणों का सर्वाधिक आदर है, वे वानप्रस्थ कहे जाते हैं। वे वन में रहते हैं, पत्ते और वन्य फलों पर निर्वाह करते हैं। वल्कल पहनते हैं, स्त्री तथा मदिरा का सेवन नहीं करते।

बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रमण शब्द तापस के साथ आया है। शंकराचार्य ने श्रमण की व्याख्या परिव्राजक तथा तापस की व्याख्या वानप्रस्थ के रूप में की है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी यह शब्द आया है। महत्वपूर्ण होने के कारण वह उद्धरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है :

वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमथिनो बभूवुः (२।७)। अर्थात् दिगंबर साधु श्रमण और ब्रह्मचारी थे। वातरशन शब्द का अर्थ है हवा को रशना अर्थात् कौपीन के रूप मे धारण करनेवाले। अर्थात् जो किसी प्रकार का वस्त्र नहीं पहनते थे। सायण ने ऊर्ध्वमंथिनः की व्याख्या ऊर्ध्वरेता के रूप में की है। इससे यह अर्थ निकलता है कि श्रमण दिगंबर रहते थे और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

वातरशन शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में भी आया है : स तपोऽतप्यता, स तपस् तप्त्वा शरीरं अधुनाते, तस्य यन् मासं आसीत ततोऽरुणाः केतवो वातरशना ऋषय उदतिष्ठन्, ये नरवाः ते वैखानसाः, ये बालाः ते बालखिल्याः (१।२३)।

प्रजापति ने तप किया। तपश्चरण के पश्चात् उसने अपने शरीर को हिलाया। उसके मास से तीन प्रकार के ऋषि उत्पन्न हुए—अरुण, केतु और वातरशन। नखों से वैखानस उत्पन्न हुए और बालों से बालखिल्य।

ऋग्वेद (१०।१३६।२) में वातरशन शब्द मुनि के विशेषण के रूप में आया है। वहाँ मुनियों को दिगंबर (वातरशन), पीले (पिशंगम) तथा मैले कुचैले (मल) बताया गया है।

१. देखें—कोर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, जि० एल० चतुर्थ संस्करण में गिरनार के शिलालेख ३ और ४, शहबाजगढ़ी लेख ३ और ४ तथा मनसेहरा का शिलालेख।

२. स्टीन. ओ०: मेगस्थनीज ऐंड कौटिल्य, कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, जि० १; अध्याय १६।

३. कैंब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, जि० १, पृ० ४२०।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि बृहदारण्यक और तैत्तिरीय आरण्यक के समय श्रमण नाम के मुनि विद्यमान थे, वे नंगे रहते थे और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। इसके विपरीत ब्राह्मण ऋषि वस्त्र पहनते थे और पत्नी के साथ रहते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में वातरशन शब्द व्यक्तिवाची है, किंतु प्रतीत होता है, वहाँ भी इसका प्रयोग दिगंबरत्व को लेकर हुआ है। दिगंबर साधु कभी कभी पीले या मैले वस्त्र भी पहनते थे, उनका उल्लेख ऋग्वेद मे भी आया है।

प्रतीत होता है, ऋग्वेद के वातरशन ही ब्राह्मण काल मे श्रमण कहे गए। वे वैदिक परंपरा के प्राचीनतम विरोधी थे। वे ही इंद्र द्वारा मारे जानेवाले यति हैं। श्रमणों का एक वर्ग वेद का उग्र विरोधी रहा होगा और दूसरा आंशिक समर्थक। वर्तमान भारत में भी दोनों वर्ग विद्यमान हैं। दूसरे वर्ग के संन्यासी वैखानस कहे जाते थे। उनकी हत्या के कारण इंद्र को दंडित होना पड़ा।

मुनियों की हत्या का उल्लेख जैन कहानियों में भी आता है।

वृत्रासुर की हत्या के लिये भी इंद्र को अपराधी माना गया। इससे ज्ञात होता है कि यतियों की हत्या के समान असुरों की हत्या भी बुरी समझी जाती थी। वृत्र के प्रति ऋषियों के मन में आदर रहा होगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्रमणों को अत्याश्रमी कहा गया है। जैन और बौद्ध परंपराएँ आश्रम व्यवस्था की विरोधी रही हैं। धीरे धीरे विरोध घटता गया और परस्पर आदान प्रदान होने लगा। वैदिक परंपरा ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर जैन और बौद्ध परंपराओं ने भी बहुत से वैदिक तत्व अपना लिए। दोनों के संमिश्रण से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। मनु तथा उत्तरकालीन समाजशास्त्रियों ने जिस समाज का चित्र उपस्थित किया है उसमें दोनों परंपराओं को उचित प्रश्रय मिला है। साथ ही यह भी मानना होगा कि धर्मजीवी वर्ग वर्ग में परस्पर विरोध चलता रहा जो अब तक विद्यमान है।

संन्यास के अधिकारी

संन्यास शब्द संस्कृत के 'अस्' धातु के साथ भाववाचक घञ् प्रत्यय लगाने पर बना है, इसका अर्थ है फेंकना। इसके पहले सम् और नि उपसर्ग लगे हुए हैं। उनका अर्थ है त्याग या निवृत्ति। मोनियर विलियम्स ने संन्यासी शब्द की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है—

'जो व्यक्ति सामाजिक जीवन से निवृत्त हो चुका है या उसे त्याग चुका है, वह तपस्वी या योगी जो लौकिक स्वार्थों का परित्याग कर चुका है और सारा समय

ध्यान, आत्मचिंतन अथवा उपनिषद् और आरण्यकों के अध्ययन में व्यतीत करता है, वह ब्राह्मण जो चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर चुका है, धर्माचरण के लिये भिक्षा पर निर्वाह करनेवाला साधक।'

संन्यासोपनिषद् (एस० बी० पृ० २०) में इसका अर्थ अग्नि का परित्याग है। भगवद्गीता (१८।२) में संन्यास का अर्थ काम्य कर्मों का परित्याग बताया गया है। वैदिक परंपरा में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है—

१. **नित्यनैमित्तिक**—संध्या वंदन आदि प्रतिदिन किए जानेवाले तथा ग्रहण, स्नान आदि विशेष अवसरों पर किए जानेवाले कर्म।

२. **काम्य** राज्य, संतान, स्वर्ग आदि फलविशेष की इच्छा से किए जानेवाले कर्म।

३. **निषिद्ध**—हिंसा, असत्य, चोरी आदि जिन कर्मों का निषेध किया गया है।

संन्यासी के लिये निषिद्ध और काम्य दोनों प्रकार के कर्म वर्जित हैं। नित्य नैमित्तिक कर्मों का विधान आत्मशुद्धि के लिये है। संन्यासी को उनका परित्याग नहीं करना होता, प्रत्युत उनके न करने पर पाप लगता है।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि संन्यास का अधिकारी कौन है। इस संबंध में पर्याप्त मतभेद है। अधिकतर उपनिषद् और धर्मसूत्र आश्रमव्यवस्था के समर्थक हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। उसके पश्चात् वानप्रस्थ के रूप में जीवन व्यतीत करना चाहिए तभी उसे संन्यासी बनने का अधिकार है। कठश्रुति उपनिषद् (के० एस० यू०, पृ० ३१) में बताया गया है कि जो व्यक्ति कर्म करता हुआ पाप से दूर रहता है, उसी को संन्यास का अधिकार है। नारायण (एस० टी०, पृ० ३८६) ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से व्यक्ति पापों से बच जाता है और उसी को संन्यास का अधिकार है। कठश्रुति उपनिषद् में भी यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए, संतान उत्पन्न करनी चाहिए और उसे काम में लगा देने पर गुरुजन की अनुमति लेकर संन्यास में प्रवेश करना चाहिए। विष्णुस्मृति (६।६९१, ३।५६।१३८) में भी यही बताया गया है कि तीन आश्रमों के पश्चात् सभी इच्छाओं से निवृत्त होकर संन्यास में प्रवेश करना चाहिए। मनुस्मृति (६।३३-३७) में भी यही बात है। वहाँ कहा गया है कि व्यक्ति को तीन ऋण उतारने के पश्चात् ही मन को मोक्ष की ओर लगाना चाहिए। देवताओं का ऋण यज्ञों से उतारना है, पितरों का संतान उत्पन्न करने पर और

ऋषियों का वेदाध्ययन के द्वारा। जो व्यक्ति उऋण हुए बिना मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है वह नरक मे जाता है। आपस्तंब धर्मसूत्र (द्वि० ६।२१।८) ने ब्रह्मचर्य के पश्चात् संन्यास की अनुमति दी है। किंतु टीकाकारों ने इसकी व्याख्या दूसरे रूप में की है। हरदत्त ने अपनी उज्वल नामक टीका में लिखा है, ब्रह्मचर्य के पश्चात् समस्त जीवन गृहस्थ के रूप में व्यतीत करना चाहिए। संन्यास का अर्थ है निषिद्ध कर्मों का परित्याग।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति न्यायपूर्वक धर्मोपार्जन करता है, विश्व के मूलभूत रहस्य को जानता है, अतिथियों का स्वागत करता है, श्राद्ध करता है और सत्य बोलता है, वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

इन उद्धरणों से पता चलता है कि वैदिक धर्म में गृहस्थ आश्रम से पहले संन्यास लेने की मनाही थी। संन्यास का अर्थ है सामाजिक उत्तरदायित्व से छुटकारा यह उत्तरदायित्व तीन ऋणों के रूप में प्रकट किया गया है। जब तक वे उतर नहीं जाते, किसी को संन्यासी बनने का अधिकार नहीं था।

शास्त्रीय विधान होने पर भी वास्तविक जीवन में इस व्यवस्था का पालन कहाँ तक यह हुआ, विचारणीय है। उपनिषदों में श्वेतकेतु, नचिकेता, उद्दालक आरुणि जाबाल आदि अनेक व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं जो बचपन में ही संन्यासी हो गए थे। जाबाल उपनिषद् में यह विधान भी मिलता है कि वैराग्य आते ही मनुष्य को संन्यास ले लेना चाहिए, चाहे वह गृहस्थ आश्रम में हो, वानप्रस्थ में हो या ब्रह्मचर्य में हो।[1] रघुवंश हिंदू संस्कृति के उच्चतम आदर्श को उपस्थित करता है। वाल्मीकि, भवभूति आदि कवियों ने अपनी अमर कृतियों में उसका चित्रण किया है, किंतु वहाँ भी राजाओं के जीवन में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन प्रायः नहीं मिलता।

आरुणी उपनिषद् में आया है कि वेदों का अर्थ समझ लेने पर यज्ञोपवीत से पहले भी संन्यास लेने का अधिकार है।

बौधायन (२।१०।१६) और वैखानस धर्मप्रश्न (२६) में संन्यास के लिये सत्तर वर्ष की आयु का विधान है। जो निस्संतान है या विधुर है और जरा तथा मृत्यु से भयभीत है, परिणामस्वरूप आत्मचिंतन और योगाभ्यास में लगा हुआ है, उसी को यह अधिकार दिया गया है। यदि संतान है तो उसे

1. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

धंधे में लगाकर और पत्नी के भरण पोषण की व्यवस्था करके ही घरबार छोड़ना चाहिए। याज्ञवल्क्य (३।५७) ने भी इसी का समर्थन किया है।

बृहत्संन्यास तथा नारदोपनिषद् में भी इसका विस्तृत वर्णन है।

संन्यासियों के विविध रूप

अब हम संन्यास तथा संन्यासियों के विविध रूपों का वर्णन करेंगे। मनुस्मृति (६।८६) में दो रूप आए हैं—यति और वेदसंन्यासिक। बौधायन (द्वि० १०।१८।२४ सूत्र पर बुह्लर की टिप्पणी १४, पृ० २८३) ने भी वेद-संन्यासिक का प्रतिपादन किया है। इसका वास्तविक अर्थ विवादग्रस्त है। टीकाकार गोविंद का कथन है कि वेदसंन्यासिक का परित्याग नहीं है, क्योंकि मृत्युपर्यंत वेदाध्ययन करते रहने का विधान है। वशिष्ठस्मृति (१०।४) में वेदसंन्यास का निषेध है। वहाँ बताया गया है कि वेद का परित्याग करने पर व्यक्ति शूद्र हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वेदसंन्यासिक का अर्थ वेदाध्ययन को छोड़कर अन्य साधनाओं में लगनेवाला व्यक्ति है। इसी के समान दूसरा शब्द घोरसंन्यासिक है। आश्रमोपनिषद् (पृ० ९६ ९८) में इसे गृहस्थ का एक प्रकार बताया गया है। वह कुएँ से स्वयं निकालकर छाने हुए पानी से नित्यकर्म का संपादन करता है, जमीन पर पड़े अनाज के दानों पर निर्वाह करता है, सारा जीवन यज्ञानुष्ठान में व्यतीत करता है और आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील रहता है।

जाबाल उपनिषद् (पृ० ६८ ७१) में तीन प्रकार के संन्यासियों का उल्लेख है — परिव्राट् आतुर और परमहंस। परिव्राट् विवर्ण वस्त्र धारण करता है, बाल उस्तरे से मुँड़वाता है, संपत्ति नहीं रखता, हृदय से शुद्ध होता है, किसी के प्रति द्वेष नहीं रखता, भिक्षा पर निर्वाह करता है और ब्रह्मलीन होने के लिये प्रयत्नशील रहता है। आतुर का अर्थ है रोगी या अशक्त। वह केवल मन तथा वाणी द्वारा संन्यास ग्रहण करता है। परमहंस जाति या संप्रदाय का कोई चिह्न नहीं रखते। संवर्तक, आरुणी, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक आदि (विंटरनित्स, एच० टी० एल्० १।५४६, ५६१) इसी कोटि के संन्यासी थे। उनकी चर्या का कोई निश्चित प्रकार नहीं है। विक्षिप्त न होने पर भी वे विक्षिप्त के समान आचरण करते हैं। परमहंस आत्मचिंतन में लीन रहता है। त्रिदंड, कमंडलु, झोली, भिक्षापात्र, पानी छानने का कपड़ा, शिखा तथा यज्ञोपवीत को 'भूः स्वाहा' कहकर छोड़ देता है। दिगंबर सुख दुःख, मान अपमान आदि द्वंद्वों से परे, अपरिग्रह ब्रह्मज्ञ तथा निर्विकार होता है। जीवननिर्वाह के लिये दिन में एक बार भिक्षा के लिये जाता है, भोजन एवं घरों के प्रति बिना किसी रागद्वेष के घूमता है और जो कुछ मिलता है वहीं खड़ा खड़ा खा लेता है।

हानि तथा लाभ के प्रति उदासीन रहता है। भग्नावशेषी देवालयों, पर्ण-शालाओं, वल्मार्कों, वृक्षों के नीचे, कुम्हार के आवों, यज्ञमंडपों, नदी के किनारे, गुफाओं, वृक्षकोटर अथवा शून्य-स्थल में निवास करता है। कहीं स्थायी रूप से नहीं रहता, किसी बात के लिये प्रयत्न नहीं करता, कहीं आसक्ति नहीं रखता सदा शुद्ध आत्मा के ध्यान में मग्न रहता है और उसके विकारों को दूर करने के लिये चिंतन करता रहता है। इस प्रकार जो संन्यासी अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ देता है, उसे परमहंस कहा जाता है।

भिक्षुक उपनिषद् (पृ० २३३-२३६) में चार प्रकार के भिक्षुओं का वर्णन है—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि कुटिचक थे। वे प्रतिदिन भोजन में केवल आठ ग्रास ग्रहण करते थे और मोक्ष के लिये योगाभ्यास करते थे। बहूदक त्रिदंड, कमंडलु, शिखा, यज्ञोपवीत तथा गेरुए वस्त्र पहनते हैं। वे भी प्रतिदिन आठ ग्रास लेते हैं, मधु और मांस का सेवन नहीं करते। ब्रह्मर्षि के घर से भिक्षा लेते हैं और मोक्ष के लिये योगाभ्यास करते रहते हैं। हंस गाँव में एक दिन, नगर में पाँच दिन और खेत में सात दिन से अधिक नहीं ठहरते। गोमय तथा गोमूत्र का सेवन करते हैं और प्रतिदिन चांद्रायण व्रत रखते हैं। वे भी योगाभ्यासी होते हैं। परमहंस भी प्रतिदिन आठ ग्रास लेते हैं और योगाभ्यास करते रहते हैं। वृक्षों के नीचे, सूने घर या श्मशान में निवास करते हैं। सवस्त्र और दिगंबर दोनों प्रकार के होते हैं। पाप और पुण्य, हानि और लाभ सभी से दूर रहते हैं। उनकी दृष्टि में शारीरिक शौच या अशौच का कोई अर्थ नहीं होता। मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना उनके लिये सभी समान हैं। प्रत्येक जाति से भिक्षा ग्रहण करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा को देखते हैं। हारीत स्मृति (दशम्-१३-१४, पराशर की टीका में माधव द्वारा उद्धृत, पृ० १६०; एवं बंबई एस० ५ जि० ४८) में भी इसी प्रकार का विभाजन है।

आश्रमोपनिषद् (पृ० १००-१०३) में भी यही विभाजन है, किंतु चर्या में कुछ भेद है—कुटीचक केवल अपनी संतान के घर से भिक्षा ग्रहण करते हैं, बहूदक सच्चरित्र ब्राह्मणों के घर से। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त जूते, आसन तथा कटिवस्त्र रखते हैं। हंस एक दंड धारण करते हैं, शिखा नहीं रखते किंतु यज्ञोपवीत, झोली और पानी छानने का कपड़ा रखते हैं। तीर्थ में पाँच रात निवास करते हैं। कृच्छ्रचांद्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठान करते रहते हैं। परमहंस दंड नहीं रखते। सारे बाल उस्तरे से मुँड़ाते हैं, कटिवस्त्र तथा कंथा पहनते हैं। सत्यनिष्ठ, सहनशील, समदर्शी तथा सभी वर्णों से भिक्षा ग्रहण करते हैं।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में दो प्रकार का विभाजन है। प्रथम प्रकार (पृ० १७४-१७५) में छह भेद बताए गए हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। कुटीचक शिखा, यज्ञोपवीत, दंड, कमंडल, कटिवस्त्र तथा चद्दर रखता है। माता पिता तथा गुरु की सेवा करता है, एक पात्र, चद्दर, तथा शिक्य (झोली) के अतिरिक्त कुछ नहीं रखता। एक ही स्थान से भिक्षा ग्रहण करता है। ललाट पर श्वेत लंबा तिलक लगाता है तथा त्रिदंड रखता है। बहूदक शिखा तथा वस्त्र आदि रखता है, ललाट पर तीन लंबे तिलक लगाता है, सभी बातों में प्रायः कुटीचक के समान रहता है। प्रतिदिन आठ ग्रास भोजन लेता है और भिक्षा के लिये भ्रमर के समान अनेक घरों में घूमता है। हंस जटाएँ रखता है, तीन तिलक लगाता है। भ्रमर के समान बिना किसी पूर्वसूचना के भिक्षा ग्रहण करता है और कंबल पहनता है। परमहंस शिखा तथा यज्ञोपवीत नहीं रखता, पाँच घरों से भिक्षा ग्रहण करता है, पाणिपात्र होता है, अर्थात् भिक्षा के लिये कोई पात्र नहीं रखता। कटिवस्त्र, चद्दर तथा दंड या केवल चद्दर रखता है। सारे शरीर पर भस्म लगाए रहता है। तुरयातीत गोचरी करता है अर्थात् गाय के समान झुककर खाद्य वस्तु को मुँह से उठाता है, हाथों का उपयोग नहीं करता, केवल फलाहार पर रहता है। आवश्यकता पड़ने पर केवल तीन घरों से अन्न ग्रहण करता है, दिगंबर रहता है तथा अपने शरीर को शव के समान समझता है। अवधूत किसी नियंत्रण को नहीं मानता, अभिशस्त और बहिष्कृत को छोड़कर सभी जातियों से अजगर के समान लेटकर भिक्षा ग्रहण करता है। आत्मचिंतन में लीन रहता है। उसी उपनिषद् (पृ० १७५) में दूसरा पाठ परमहंसों को दिगंबर बताता है, वहाँ कहा गया है कि अंतिम तीन प्रकार के संन्यासी मेखला, कटिसूत्र, वस्त्र, कमंडल तथा दंड धारण नहीं करते। प्रत्येक जाति से भिक्षा ग्रहण करते हैं तथा दिगंबर रहते हैं।

दूसरे विभाजन के आरंभ में नारद ने ब्रह्मा से (पृ० १७०-१७३) प्रश्न किया है—"भगवन्! आप कहते हैं कि संन्यासी के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, दूसरी ओर आप उनके लिये अनेक कर्त्तव्यों का प्रतिपादन कर रहे हैं। इन दोनों में सामंजस्य कैसे किया जाए?"

ब्रह्मा ने उत्तर दिया--"शरीरस्थ आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। प्राणियों का अपनी अपनी अवस्था के अनुसार जीवन-व्यवहार होता है। कोई कर्म करता है, कोई भक्ति की ओर झुका हुआ है और कोई अनासक्त होकर ज्ञान की उपासना में लगा है।"

इसपर नारद ने पूछा—"संन्यास कितने प्रकार का है और उनके क्या कर्तव्य हैं?"

ब्रह्मा ने उत्तर दिया—"वास्तव में देखा जाय तो संन्यास एक ही प्रकार का है, किंतु अज्ञान, अशक्ति और कर्मलोप के कारण इसके तीन भेद हो गए हैं। वे ही क्रमशः चार हो गए--वैराग्यसंन्यास, ज्ञानसंन्यास, ज्ञानवैराग्यसंन्यास और कर्मसंन्यास। जो व्यक्ति काम तथा अन्य इच्छाओं से विरक्त होकर पूर्वकृत शुभ कर्मों के कारण संन्यास ग्रहण करता है वह वैराग्यसंन्यासी है। जो व्यक्ति साधनचतुष्टय संपन्न है, शास्त्रज्ञान तथा अनुभव द्वारा बाह्य वस्तुओं की नश्वरता को जानकर सांसारिक भोगों को छोड़ता है वह ज्ञानसंन्यासी है। वह क्रोध, ईर्ष्या, शोक, अहंकार तथा गर्व छोड़ देता है एवं शरीर, स्त्री, धन आदि ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से भी अनासक्त हो जाता है, उन्हें वमन के समान घृणा की दृष्टि से देखता है। ज्ञानवैराग्य संन्यासी सभी आश्रमों का पालन करता हुआ क्रमशः संन्यास में प्रवेश करता है। ज्ञान और वैराग्य के द्वारा समस्त वस्तुओं से अनासक्त हो जाता है और दिगंबर रहने लगता है। जो व्यक्ति आश्रमों का पालन करते हुए वैराग्य न होने पर भी संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है उसे कर्मसंन्यासी कहा जाता है।

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है उसे वैराग्यसंन्यासी कहा जाता है। जो ज्ञान हो जाने पर संन्यास में प्रवेश करता है उसे ज्ञानसंन्यासी कहा जाता है। इसके विपरीत जो ज्ञान प्राप्त करने के लिये संन्यास में प्रवेश करता है उसे कर्मसंन्यासी कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—निमित्तसंन्यास अर्थात् किसी विशेष कारण या घटना के फलस्वरूप स्वीकार किया जानेवाला, और अनिमित्तसंन्यास, स्वाभाविक झुकाव के कारण स्वीकार किया जानेवाला। निमित्त-संन्यास को आतुरसंन्यास भी कहा जाता है और अनिमित्त को कर्मसंन्यास। आतुरसंन्यास मृत्यु के समय लिया जाता है, जिस समय व्यक्ति रोग या वृद्धवस्था के कारण अत्यंत अशक्त हो जाता है और कर्म करने का सामर्थ्य नहीं रहता। अनिमित्त संन्यास का अर्थ है जब व्यक्ति आत्मा के अतिरिक्त समस्त बाह्य वस्तुओं को नश्वर तथा हेय समझकर उनसे विरक्त होता है।

संन्यासी की वेशभूषा

मनुस्मृति (षष्ठ ५२)[1] में संन्यासी के नीचे लिखे बाह्य चिह्न बताए गए हैं। उसके सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ तथा नख कटे होने चाहिए। भिक्षापात्र, दंड और कमंडल रखना चाहिए। पात्र तुंबी, काठ, मिट्टी या बाँस के होने

१. इसके अतिरिक्त देखें; बौधायन धर्मसूत्र द्वि० १०।१७।१०; महाभारत द्वादश २४४।८४१४ एवं विष्णु० ९६।७–८।

चाहिए, धातु के नहीं। साथ ही टूटे फूटे नहीं होने चाहिए। वे पानी से धोने पर शुद्ध हो जाते हैं, मिट्टी आदि से माँजने की आवश्यकता नहीं होती। याज्ञवल्क्य (वृ० ६०) ने सफाई के लिये गोपिच्छ की भी अनुमति दी है। बौधायन (द्वि० ६।१७।१७–२०) का कथन है कि संन्यासी को वन में रहना चाहिए, सिर पूरा मुंडित होना चाहिए। कटिवस्त्र तथा चद्दर गेरुए रंग के होने चाहिए।

गौतम (३।१७-१८, ११ तथा विष्णु० ९६।१३) का कथन है कि संन्यासी पूर्ण मुंडित और शिखासहित दोनों प्रकार का हो सकता है। शरीर पर वस्त्र धारण करता है। किसी के मतानुसार यह कपड़ा कूड़े के रूप में फेंका हुआ होना चाहिए, और उसे धोकर पहनना चाहिए।

संन्यासोपनिषद् (२०-२१) तथा बौधायन (द्वि० १०।१२, ३२) में बताया गया है कि संन्यासी को बगल तथा गुह्य भाग के बाल नहीं मुँडवाने चाहिए तथा अपने पास पवित्र (पानी छानने का) वस्त्र रखना चाहिए। उसी उपनिषद् में उद्धरण के रूप में कुछ और बातें भी बताई गई हैं, वे हैं—कुंडिक (जलपात्र), चमस (प्याला), शिक्य (झोली), त्रिदंड, उपानह, कंबल, कटिवस्त्र छानने का कपड़ा, अँगोछा तथा चद्दर।

आरुणी और कठश्रुति उपनिषद् में सिर के बाल एवं शिखा के साथ यज्ञोपवीत का भी परित्याग बताया गया है। अनेक अन्य उपनिषदों में भी यज्ञोपवीत छोड़ने का विधान है। ऐसे भी अनेक उद्धरण मिलते हैं जहाँ यज्ञोपवीत रखना आवश्यक माना गया है। उनमें संध्यावंदन आदि नित्यकर्मों को ब्राह्मण के लिये आवश्यक माना गया है और वे यज्ञोपवीत के बिना नहीं हो सकते। कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि परमहंस को छोड़कर अन्य भिक्षुओं के लिये यज्ञोपवीत आवश्यक है। परमहंस सभी बंधनों से परे होता है, अतः उसके लिये वह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः इस संघर्ष का मूल है श्रमण और ब्राह्मण दो परंपराएँ। ब्राह्मण परंपरा ने अपने प्रारंभकाल में संन्यास को प्रश्रय नहीं दिया। कालांतर में जब उसने देखा कि सर्वसाधारण में उसका आदर बढ़ रहा है, तो उसे चतुर्थ आश्रम के रूप में स्वीकार कर लिया। साथ ही शूद्रों को अलग रखने के लिये यज्ञोपवीत तथा संध्यावंदन आदि नित्यकर्मों को आवश्यक बताना प्रारंभ किया, दूसरी ओर श्रमण परंपरा ने आत्मसाधना के लिये उन्हें अनुपयोगी समझा।

दंडधारण के विषय में भी विवाद है। कहीं एक दंड का विधान है और कहीं त्रिदंड का। मनुस्मृति (१०।१०-११ तथा ९।२९६) में त्रिदंड की व्याख्या मन, वचन और काया पर नियंत्रण के प्रतीक रूप में की गई है। जैन साधुओं में भी श्वेतांबर मूर्तिपूजक दंड धारण करते हैं।

तुरायातीतावधूतोपनिषद् (२४९) में बताया गया है कि संन्यासी कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस अवस्थाओं को पार करके क्रमशः तुरयातीत बनता है। तब वह दंड, कमंडलु, मेखला, कटिवस्त्र तथा चद्दर को पानी में बहा देता है।

किंतु आरुणी उपनिषद् (६) में कुटीचक के लिये भी इनके परित्याग का विधान है।

जाबाल उपनिषद् (७०) के अनुसार इनका परित्याग परमहंस करता है।

शाट्यायनीय उपनिषद् (३२३-३२४) में वैष्णव संन्यासियों का निरूपण है। वहाँ त्रिदंड को भगवान् विष्णु का चिह्न बताया गया है। साथ ही त्रिदंड, सूत्र कटिवस्त्र, झोली और पानी छानने का कपड़ा प्रत्येक संन्यासी के आवश्यक चिह्न माने गए हैं इन्हें पाँच मात्राएँ कहा जाता है। संन्यासी यावज्जीवन इन्हें धारण करता है और मृत्यु होने पर ये उसी के साथ दबा दी जाती हैं।

संन्यासी का दैनिक जीवन

संन्यासी को अकेले रहना चाहिए, किसी को अपने साथ नहीं रखना चाहिए। उसके न परिवार होता है, न घर। वह आग नहीं जलाता, गाँव में केवल भिक्षा के लिये जाता है। शत्रु और मित्र, दुःख और सुख प्रतिकूल और अनुकूल प्रत्येक बात में तटस्थ रहता है। एकमात्र अपने लक्ष्य को ध्यान में रखता है और उसपर दृढ़ रहता है। वह मौन, शात तथा स्थिरचित्त होता है।[१] संन्यासी को किसी एक स्थान पर न रहकर अकेले घूमते रहना चाहिए।[२] जब तक अकेला है, उसे भिक्षु कहा जाता है, दो होने पर युगल, तीन होने पर ग्राम और चार या अधिक होने पर नगर। युगल, ग्राम तथा नगर बनने पर यति कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। संपर्क बढ़ाने या अधिक एकत्रित होने पर संन्यासी राजनीति तथा भिक्षा की चर्चा करने लगते हैं, वृथा मोह में पड़ जाते हैं, निंदा तथा चुगलखोरी करने लगते हैं।

वर्षा के चार मास एक स्थान पर रहता है और शेष आठ मास घूमता रहता है (गौतम धर्मसूत्र, प्र० ३.१२; बौधायन० द्वि० ६. ११. २०)[३] उसे अपने

१. मनु० ६।४१-४३; बौधायन धर्मसूत्र द्वि० १०-१८-२१; महाभारत २४२। ८८।१२।

२. पृ० २१, ४१, १४१, १८९ (पाराशर में माधव द्वारा उद्धृत, बंबई, ५.५, जिल्द ४८); पृ० १८०, वैखानस तृ० ६।

३. जैन और बौद्ध भिक्षुओं में यह प्रथा अब भी विद्यमान है।

पास किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। गाँव में चातुर्मास के बिना एक रात्रि से अधिक नहीं ठहरना चाहिए।

वैखानस धर्मसूत्र (तृ० ६-६८) में आया है कि संन्यासी को मान और अपमान में समान रहना चाहिए। व्यर्थ की चर्चा, क्रोध, लोभ तथा असत्य से दूर रहना चाहिए। चातुर्मास को छोड़कर कहीं एक दिन से अधिक नहीं ठहरना चाहिए।

भोजन के लिये मनुस्मृति (षष्ठ ५५-५६; महाभा० शां० २४२, ८८३१ तथा २४५. ८६४०; विष्णु० ६६. २-६, वसिष्ठ० दशम्. २६. गोतम० प्र० ३ १३-१५) में आया है कि संन्यासी को दिन में एक ही बार भिक्षा लेनी चाहिए। स्वाद तथा अन्य बातों के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। भिक्षा से आसक्ति रखनेवाला यति इंद्रियलोलुप हो जाता है। भिक्षा के लिये उस समय जाना चाहिए जब घरों से धुँआँ निकलना बंद हो गया हो, मूसल का व्यापार अर्थात् धान्य का कूटना रुक गया हो, आग बुझ गई हो, घर के सदस्य भोजन कर चुके हों और थालियाँ हटा दी गई हों। भिक्षा न मिलने पर उसके मन में खेद नहीं होना चाहिए, और मिलने पर हर्ष नहीं होना चाहिए। उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए जितनी जीवननिर्वाह के लिये आवश्यक हो। बर्तन तथा अन्य सामग्री के प्रति किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए। ऐसे भोजन को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो उसी के लिये तैयार किया गया हो, क्योंकि मोहरहित संन्यासी भी ऐसी बातों से मोह में फँस जाता है। अल्पाहार तथा एकांतवास द्वारा मन को वश में करने का अभ्यास करते रहना चाहिए। मधुर या स्वादिष्ट भोजन की कामना नहीं करनी चाहिए।

बोधायन (द्वि० १०, १८. ४-१५ तथा वैखा० तृ० ७. १-६) का कथन है कि संन्यासी को केवल ब्राह्मण के घर से भिक्षा लेनी चाहिए, वह शालीन अर्थात् घर में रहता हो या यायावर अर्थात् घुमक्कड़ हो। भिक्षा के समय उसे भवत् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। उसे भिक्षा में गोदोहन जितना समय लगाना चाहिए। भिक्षा लाकर उसे पवित्र भूमि पर रख देना चाहिए। हाथ, पैर धोकर प्रथम ग्रास के लिये 'उदत्यम्' (ऋक्० १.५०१) और 'चित्रम्' (ऋक्० १. २. ५. १) आदि मंत्र बोलना चाहिए। स्नान के पश्चात् आचमन करना चाहिए और 'ब्रह्मज्ञानम्' (T. A. X 1—10) आदि मंत्र बोलना चाहिए। संन्यासी को यज्ञ की अग्नि का रूपक दिया जाता है। उसके प्राण गार्हपत्य अग्नि हैं, अपान अंवाहार्यपचन, व्यान आहवनीय, उदान सभ्य और उसकी समान वायु, आवसथ्य अग्नि है। शरीर में ये पाँचों अग्नियाँ विद्यमान हैं। वह अपनी आत्मा में ही हवन करता है। इसी को आत्म-

यज्ञ कहा जाता है। भूतों को बलि देने के पश्चात् भोजन को पानी में मिला देता है। और अनासक्त होकर बिना स्वाद लिए औषधि के रूप में उसका सेवन करता है। भोजन के पश्चात् पानी पीता है और नीचे लिखे मंत्र द्वारा सूर्य की पूजा करता है — 'उदः वये तमसस्परि' (T. S. N 1, 7. 4.) आदि। बोधायन ने कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं, उनका आशय है :

संन्यासी को वही भोजन स्वीकार करना चाहिए, जिसके लिये उसने न भिक्षा माँगी हो और न कामना की हो। जो अपने आप प्राप्त हुआ हो और निर्वाह के लिये आवश्यक से अधिक न हो। मुनि को आठ ग्रास लेने चाहिए, वानप्रस्थ को १६ गृहस्थ को ३२ तथा ब्रह्मचारी के लिये कोई मर्यादा नहीं है। कहीं पर उसे सब जातियों से भिक्षा लेने का अधिकार दिया गया है और कहीं केवल ब्राह्मण से। उसे अनाज के दाने, पूरी, सत्तू मट्ठा या दूध लेने का अधिकार है। नीचे लिखी आठ बातों से संन्यासी का व्रत नहीं टूटता। कंदमूल, घी, दूध, पुरोडाश (यज्ञान्न), ब्राह्मण की इच्छा, गुरु की आज्ञा और औषधि[1]।

याज्ञवल्क्य (पृ० ५८-५६) का कथन है कि संन्यासी को भिक्षा के लिये तीसरे पहर निकलना चाहिए और उसके लिये सूचना नहीं देनी चाहिए। साथ ही जहाँ भिक्षु घूम रहे हों, वहाँ नहीं जाना चाहिए।

संन्यासोपनिषद्, (पृ० १८) में आया है कि संन्यासी को हवा, पानी, बिखरे हुए अनाज के दाने और पके फलों पर निर्वाह करना चाहिए; यदि वह भिक्षा ग्रहण करता हो तो उसे दूसरे को देने का अधिकार नहीं है।

विश्वेश्वर कृत यतिधर्मसंग्रह (६०।१६०) में बताया गया है कि जो संन्यासी मधुकरी के रूप में ग्रहण की गई भिक्षा किसी ब्राह्मण को देता है वह नरक में जाता है। 'ऐसी भिक्षा लेनेवाला ब्राह्मण भी पातक का भागी होता है; उसे शुद्धि के लिये चान्द्रायण व्रत करना चाहिए'।

कठश्रुतिउपनिषद् (पृ० ३२-३३) के अनुसार संन्यासी सभी जातियों से भिक्षा ग्रहण कर सकता है। हाथ के अतिरिक्त किसी पात्र को काम में नहीं लाता, भोजन का औषधि के समान सेवन करता है, जो कुछ मिलता है, जीवननिर्वाह के लिये खा लेता है, जिससे उदरवृद्धि न हो। उसे दुबला पतला होना चाहिए। बौद्ध आचार्य नागसेन का कथन है कि भिक्षु शरीर को घाव के समान समझता है, जिसके नौ द्वारों से घृणित वस्तुएँ निकलती रहती हैं। जिस प्रकार रोगी घाव पर तेल या मरहम लगाता है, उसी प्रकार भिक्षुक भी शरीर को हेय समझकर भी भोजन प्रदान करता। (मिलिंद पञ्हो, पृ०।६)।

१. बौधायन धर्मसूत्र, द्वि०, १०, १८, १६।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (१७६–१७७) में आया है कि कुटीचक को एक ही घर से भिक्षा लेनी चाहिए। बहूदक भ्रमर के समान घूमता हुआ अनेक घरों से भिक्षा ग्रहण करता है, उनमें अच्छे बुरे आदि का भेद नहीं करता। हंस आठ घरों से आठ ग्रास लेता है। परमहंस पाँच घरों से भिक्षा ग्रहण करता है, वह पात्र नहीं रखता, भिक्षा को हाथ में लेकर खड़ा खड़ा खा लेता है। तुरयातीत गाय के समान झुककर मुँह से भोजन उठाता है, हाथों का प्रयोग नहीं करता। अवधूत सर्प के समान लेटकर भिक्षा ग्रहण करता है और सभी जातियों से सब कुछ स्वीकार कर लेता है।

वैखानसधर्मप्रश्न (तृ०।६, १, ११) के अनुसार संन्यासी भगवे वस्त्र तथा पानी छानने का कपड़ा आदि वस्तुओं को त्रिदंड के साथ बाँधकर पीठ पर उठाए फिरता है। बाएँ हाथ में दंड रखता है और दाएँ में भिक्षापात्री केवल दिन में एक बार वैश्वदेवयज्ञ के पश्चात् ब्राह्मणों के घर से भिक्षा लेता है। जल्दी जल्दी या अत्यंत मंद गति से नहीं चलता। भिक्षासमय के अतिरिक्त दूसरे किसी समय किसी के घर नहीं जाता। और भिक्षा के लिये भी दो मील से अधिक दूर नहीं जाता। (वैखानस तृ०।७, १–५)

संन्यासी का आचार

मनु[1] का कथन है कि संन्यासी को निर्गेह, अपरिग्रही, मौन तथा एकाग्र रहना चाहिए। शत्रु और मित्र, जीवन और मृत्यु सभी के प्रति समान होना चाहिए। जिस प्रकार भृत्य अपने वेतन की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार उसे मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहना चाहिए, सावधानीपूर्वक जमीन देखते हुये चलना चाहिए, छना हुआ पानी पीना चाहिए तथा मन और वाणी से पवित्र रहना चाहिए, दूसरों के अपमानजनक या उत्तेजक वचनों को शांतिपूर्वक सहन करना चाहिए, किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। जब तक शरीर है, किसी के प्रति शत्रुता नहीं रखनी चाहिए। क्रोध करनेवाले के प्रति क्रुद्ध नहीं होना चाहिए और निंदक की निंदा नहीं करनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या तथा गर्व से युक्त वचन नहीं बोलना चाहिए। परमात्मा के चिंतन में प्रसन्न रहना चाहिए। इंद्रियभोगों के प्रति अनासक्त होकर परमानंद की प्राप्ति के लिये अकेले, घूमते रहना चाहिए। इंद्रियनिग्रह, राग और द्वेष पर विजय तथा अहिंसा द्वारा वह अमृत पद को प्राप्त करता है। अनजान में की गई हिंसा के लिये यति को दोनों समय स्नान तथा प्राणायाम करने चाहिए। अहिंसा, इंद्रियनिग्रह, वैदिक अनुष्ठान

१. मनु० ६।४३–४९, ६०, ६३, ७५; विष्णु० ९६।४, १४–२३; अर्थशास्त्र (८.म शास्त्री) पृ० ८, ११, ३–६।

तथा तपस्या के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। जो व्यक्ति उसकी बाँह को काट डालता है, उसका बुरा नहीं सोचना चाहिए और जो चंदन का लेप करता है, उसका भला नहीं सोचना चाहिए।

गौतम (प्र०।३, १५, १७, १६, २२–२४) का कथन है कि भिक्षु को स्वादिष्ट भोजन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। वाणी, दृष्टि और क्रिया पर नियंत्रण रखना चाहिए। वृक्षों से शाखा, पत्ते, फल या कोई वस्तु नहीं तोड़नी चाहिए, केवल उन्हीं को काम में लाना चाहिए जो अपने आप नीचे गिर पड़ी हों। बीजों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, कोई प्रहार करे या सेवा, सभी के प्रति समान व्यवहार रखना चाहिए। किसी प्रकार के व्यसन में आसक्त नहीं होना चाहिए।

बोधायन (द्वि०।१०, १८, २३; १६–१८, २१–२२) ने संन्यासी के लिये नीचे लिखे व्रत बताए हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनके साथ पाँच उपव्रत हैं—अक्रोध, गुरुसेवा, अप्रमाद, शौच और आहारशुद्धि।

वेद में कहा गया है कि संन्यासी को सर्वथा मौन रहना चाहिए। केवल वेदज्ञ गुरु या विद्वान् तपस्वी के साथ वार्तालाप करना चाहिए और वह भी दाँतों को दबाए, मुँह को बिना खोले। स्त्रियों के साथ संभाषण नहीं करना चाहिए।

दिन में खड़े रहना, मौन रखना या रात को पद्मासन से बैठे रहना, इन तीनों में से किसी एक व्रत का अनुष्ठान अवश्य करते रहना चाहिए। तीनों को एक साथ अंगीकार नहीं करना चाहिए। सायंकाल वारुणी और प्रातः मैत्री का पाठ करना चाहिए। केवल वेदपाठ के लिये ही वाणी का प्रयोग करना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, दंभ, गर्व, असत्य आदि दोषों से दूर रहना चाहिए (ऋक्० पृ० ८)।

परमहंस उपनिषद् (पृ० ५०–५४) में आया है कि संन्यासी को दिगंबर रहना चाहिए, किसी दूसरे को नमस्कार नहीं करना चाहिए। देवता या पितर किसी की वंदना या स्तुति नहीं करनी चाहिए। देवताओं का न आह्वान करना चाहिए और न विसर्जन। मंत्र, ध्यान तथा पूजा का भी उसके लिये कोई प्रयोजन नहीं है। उसकी प्रवृत्ति में लक्ष्य और अलक्ष्य भिन्न और अभिन्न, दिन और रात का कोई भेद नहीं रहता। उसकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का महत्व नहीं है। उसका कोई निश्चित निवास नहीं होता। स्वर्ण को स्वीकार करना तो दूर रहा, वह उसे देखता भी नहीं। यहाँ एक प्रश्न किया गया है कि स्वर्ण को देखने में क्या दोष है। उत्तर में कहा गया है कि देखने से लोभ जाग्रत हो जाता है। प्रायश्चित्त के रूप में कहा गया है कि यदि भिक्षु स्वर्ण को लोभदृष्टि से देखता है तो ब्रह्महत्या का पाप लगता है, यदि छूता है तो शूद्र हो जाता है,

यदि स्वीकार करता है तो आत्मघात करता है। वह न दुःखों से घबराता है और न सुखों की कामना करता है। आसक्ति से दूर रहता है और भली बुरी समस्त वस्तुओं का परित्याग करता है। राग और द्वेष से दूर रहता है। इंद्रियों को वश में रखता है। ज्ञाननिष्ठ तथा ब्रह्मलीन होता है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (पृ० १४६-१४७) में बताया गया है कि संन्यासी को १. अजिह्व, २. षंढक, ३. पंगु, ४. अंध, ५. बधिर और ६. मुग्ध के समान रहना चाहिए।

अजिह्व का अर्थ है भोजन के प्रति आसक्त न रहनेवाला, स्वादिष्ट तथा बेस्वाद सभी पदार्थों को समतापूर्वक स्वीकार करनेवाला। वह सत्य, मित और हित वचन बोलता है।

२. षंढक का अर्थ है नपुंसक के समान व्यवहार करनेवाला। स्त्री नवजात हो, षोडशी हो या सौ वर्ष की वृद्धा हो, सभी के प्रति वह समान भाव रखता है।

३. पंगु का अर्थ है जो भिक्षा और शौच के अतिरिक्त कहीं नहीं जाता और एक साथ एक योजन से अधिक नहीं चलता।

४. अंध का अर्थ है जो व्यक्ति चलते समय अथवा खड़े खड़े चतुर्दिक् चार युग (१६ हाथ) भूमि के आगे नहीं देखता।

५. बधिर का अर्थ है जो हित और अहित, मधुर और कटु सभी प्रकार के वचन सुनकर समभाव रखता है, विचलित नहीं होता। ऐसा व्यवहार करता है जैसे सुना ही न हो।

६ मुग्ध का अर्थ है सामर्थ्य होने पर भी इंद्रियविषयों के प्रति अनासक्ति, सुप्त के समान व्यवहार।

इसी उपनिषद् में अन्यत्र भिक्षु के दैनिक कृत्य और व्यवहार का वर्णन है। कुटीचक को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, बहूदक को दो बार और हंस को एक बार। परमहंस केवल मानसिक स्नान करता है, तुरयातीत भस्मस्नान और अवधूत वायुस्नान।

कुटीचक के ललाट पर तिलक के रूप में एक खड़ी रेखा होती है, बहूदक और हंस के तीन रेखाएँ। परमहंस ललाट पर भस्म लगाता है, तुरयातीत पुंड्र और अवधूत कुछ नहीं।

कुटीचक प्रत्येक ऋतु में एक बार मुंडन कराता है, बहूदक दो ऋतुओं में एक बार, हंस और परमहंस प्रायः मुंडन नहीं कराते, किंतु यदि वे चाहें तो छह महीने में एक बार करा सकते हैं। तुरयातीत और अवधूत मुंडन से दूर रहते हैं।

कुटीचक एक ही घर से भिक्षा लेता है, बहूदक अनेक घरों से। हंस और परमहंस पाणिपात्र होते हैं। तुरयातीत गाय के समान भोजन को मुँह से उठाता है और अवधूत साँप के समान लेटकर।

कुटीचक दो वस्त्र रखता है, बहूदक एक, हंस केवल कौपीन, परमहंस दिगंबर होते हैं। मृगचर्म को हंस और परमहंस ही धारण कर सकते हैं।

कुटीचक और बहूदक देवताओं की पूजा कर सकते हैं। हंस और परमहंस केवल मानसिक पूजा करते हैं। तुरयातीत और अवधूत जीवात्मा एवं परमात्मा में अभेद का चिंतन करते हैं।

कुटीचक और बहूदक मंत्रजाप करते हैं, हंस और परमहंस ध्यान, तुरयातीत और अवधूत के लिये कोई विधान नहीं है।

परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत ही महावाक्य के अधिकारी माने जाते हैं, अन्य तीन नहीं।

प्रथम दो मानुष प्रणव के अधिकारी हैं, बीच के दो आंतर प्रणव के और अंतिम दो ब्रह्म प्रणव।

प्रथम दो श्रवण करते हैं, द्वितीय दो मनन तथा अंतिम दो निदिध्यास।

वैखानसधर्मप्रश्न (तृ०।६।१४,१०) में संन्यासी का नीचे लिखा आचार बताया गया है। उसे स्नान के पश्चात् 'ओ३म' के उच्चारण द्वारा आत्मा को तर्पण तथा नमस्कार करना चाहिए। छह प्राणायाम तथा सौ गायत्री पाठ के पश्चात् दैनिक प्रार्थना करनी चाहिए। छना हुआ पानी पीना चाहिए, गेरुए वस्त्र पहनने चाहिए। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य तथा अस्तेय का पालन करना चाहिए। चलते समय दृष्टि भूमि पर रखनी चाहिए, जिससे जीवहिंसा न हो।

मनुस्मृति (षष्ठ।५०-५२) में संन्यासी के लिये नीचे लिखी वस्तुएँ वर्जित बताई गई हैं। उसे भविष्यवाणी, शकुन, ज्योतिष, सामुद्रिक, उपदेश या अध्यापन के द्वारा भिक्षोपार्जन नहीं करना चाहिए। जहाँ बहुत से भिक्षुक, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते या दूसरे संन्यासी रहते हों, ऐसे घर में भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिए।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (१४८) में नीचे लिखी छह बातें वर्जित हैं; नट आदि का प्रदर्शन, जुआ, गोष्ठी, भक्ष्य (ऐसा भोजन जिसे चबाना पड़े), भोज्य (ऐसा भोजन जिसे चबाने की आवश्यकता नहीं होती) और ऋतुमती स्त्री को देखना। नीचे लिखी छह बातों का चिंतन भी नहीं करना चाहिए: ईर्ष्या(अहंकार), राग ईर्ष्या, माया, द्वेष और क्रोध। नीचे लिखी छह बातें संन्यासी के लिये गुरु अपराध हैं-शय्या, श्वेत वस्त्र, स्त्रीकथा, कामुकता, दिन में सोना और यात्रा। आत्मचिंतक को लंबी यात्रा नहीं करनी चाहिए।

कर्मकांड का अध्ययन अध्यापन नहीं करना चाहिए। वेदांत के अतिरिक्त अन्य बातों को सुनना भी नहीं चाहिए। ओ३म् के अतिरिक्त कोई पाठ नहीं करना चाहिए। न्याय तथा व्याकरण नहीं पढ़ना चाहिए। उनका अध्यापन भी नहीं करना चाहिए और न अधिक बोलना चाहिए भावों की अभिव्यक्ति के लिये जहाँ तक हो

सके इशारों से काम चलाना चाहिए । संस्कृत के अतिरिक्त भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए । शूद्र, पतित तथा स्त्रियों, विशेषतया रजस्वला, के साथ संभाषण नहीं करना चाहिए । देवताओं की पूजा, पर्व तथा मेलों में संमिलित होना भी वर्जित है (१७६) ।

तैरकर नदी नहीं पार करनी चाहिए वृक्ष तथा गाड़ी पर नहीं चढना चाहिए । क्रय, विक्रय तथा विनिमय नहीं करना चाहिए । दंभ तथा मिथ्याभाषण से दूर रहना चाहिए (१७७) ।

संन्यासी का मरण

महाभारत (११।१४२) में वानप्रस्थ के लिये कहा गया है कि वह नीचे लिखे पाँच प्रकारों से अपने जीवन का अंत कर सकता है–अनशन, समुद्रपतन, पत्थर से पैर कुचलकर, आग में जलकर अथवा युद्ध करते हुए। अनशन करनेवाला स्वर्ग में जाता है, डूबनेवाला वरुणलोक में, पैर से कुचलनेवाला गुह्यक अर्थात् यक्षलोक में, जलनेवाला ब्रह्मलोक में तथा युद्ध करनेवाला इंद्रलोक में ।

मनु ने (६।३१) एक और प्रकार भी बताया है : वानप्रस्थ को पानी और हवा पर निर्वाह करते हुए उत्तर-पूर्व की ओर तब तक चलते रहना चाहिए, जब तक शरीर नीचे न गिर पड़े । याज्ञवल्क्य (३।५५) ने भी मनु का समर्थन किया है । संन्यासी के लिये भी इसी प्रकार के मरण का विधान है ।

आपस्तंब धर्मसूत्र । द्वि० । ६-२२, ४ तथा द्वि० । ६-२३-२ एवं वसिष्ठ । ४ तथा वैखानस । ३२-३१ भी) में भी आया है कि संन्यासी को सर्वप्रथम पानी पर रहना चाहिए, फिर हवा पर और फिर केवल आकाश पर । इसका अर्थ है उपवास द्वारा प्राणों का त्याग ।

जाबालोपनिषद् (६८, एवं विंटरनित्सकृत 'हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर' जिल्द १, पृ० २४०) में भी उपर्युक्त प्रकारों का वर्णन है ।

कठश्रुति उपनिषद् (३६) में उपर्युक्त पाँच प्रकारो के अतिरिक्त वृद्ध अर्थात् चौथे आश्रम में प्रवेश का भी विधान है ।

इन उपनिषदों में संन्यासी के लिये दो मार्ग बताए गए हैं : यदि वह संन्यास में प्रवेश करते ही जीवन का अंत करना चाहता है तो उसके लिये प्रथम पाँच प्रकार हैं, दूसरी ओर यदि वह आयु पूरी होने तक जीना चाहता है तो उसके लिये चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करने का विधान है। इन उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों वानप्रस्थ और संन्यास में विशेष अंतर नहीं किया जाता था ।[1]

१. जैन मुनियों में भी दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं ।

उपसंहार

मुनि संस्था का इतिहास यह बताता है कि किस प्रकार बाह्य क्रियाओं तथा वेशभूषा को अधिक महत्व मिलता गया। वैदिक संहिताओं में मुनियों का निर्देश है जो या तो दिगंबर रहते थे या मलिन वस्त्र धारण करते थे। यतियों का भी उल्लेख आता है, किंतु वे वैदिक परंपरा के विरोधी थे, इसीलिये इंद्र द्वारा उनके मारे जाने की घटना आती है। संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणों का समय आता है। उनमें उपर्युक्त घटना के साथ वैखानसों का भी वर्णन है। प्राचीनतम उपनिषदों में तापस और परिव्राजकों का निर्देश है। इनमें वैदिक क्रियाकांड को पर्याप्त महत्व दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय गृहस्थाश्रम की प्रधानता थी।

संन्यास की अनुमति के संबंध में समस्त साहित्य को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी सारा जीवन कर्म करते रहने पर बल देती है। वहाँ संन्यास के लिये कोई स्थान नहीं है, इसमें शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीयोपनिषद् तथा ईशोपनिषद् आते हैं। दूसरी श्रेणी गृहस्थाश्रम को महत्व देने पर भी कर्मसंन्यास या निवृत्ति को स्वीकार करती है। इसमें वानप्रस्थ और संन्यासी में विशेष भेद नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में यह विधान है कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश आवश्यक है। उसके पश्चात् वानप्रस्थ या संन्यासी किसी भी रूप में जीवन व्यतीत किया जा सकता है। तीसरी श्रेणी क्रमशः चारों आश्रमों का विधान करती है। इसमें मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, महाभारत और वैखानसधर्मप्रश्न आते हैं। चौथी श्रेणी आश्रम व्यवस्था को अनावश्यक समझती है इसमें आपस्तंब, गौतम, वसिष्ठ और बोधायन धर्मसूत्र आते हैं।

जाबालोपनिषद् में केवल परमहंसों का उल्लेख है। आरुणी में कुटीचक और परमहंस उल्लिखित हैं। परमहंस उपनिषद् में परमहंसों के दो प्रकार बताए गए हैं। चार या पाँच प्रकार के संन्यासियों का उल्लेख करनेवाले उपनिषद् अर्वाचीन हैं। आश्रम और भिक्षुक उपनिषद् में चार प्रकार बताए गए हैं— कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। तुरीयातीतावधूतोपनिषद् में पाँचवाँ भेद तुरयातीत बताया गया है। नारदपरिव्राजक और बृहत्संन्यास में अनेक प्रकारों का वर्णन है, साथ ही उनके सूक्ष्म भेदों का भी विस्तार किया गया है। ये दोनों और भी अर्वाचीन हैं। शाट्यायन सबसे अर्वाचीन है और वैष्णव परंपरा से संबंध रखता है।

*

तालिका

संन्यासी का नाम	स्नान	तिलक	मुंडन	भोजन	वस्त्र	पूजा	मंत्रोच्चारण	शिक्षा	प्रणव के भेद	श्रवण आदि
कुटीचक	दिन मे तीन बार	खड़ी लकीर	प्रत्येक ऋतु मे एक बार	एक ही घर से	कौपीन और चद्दर	देवपूजा	बाह्य उच्चारण करते हुए	अनिर्धारित	मानस	श्रवण
बहूदक	दिन मे दो बार	तीन रेखाएँ	दो ऋतुओं मे एक बार	भ्रमर की तरह अनेक घरों से	एक	,,	,,	,,	,,	,,
हंस	एक बार	तीन खड़ी रेखाएँ	नहीं	पाणिपात्र	कटिवस्त्र या मृगचर्म	मानस	ध्यान	,,	आंतर	मनन
परमहंस	मानस-स्नान	भस्म	वर्ष में दो बार या बिलकुल नहीं	,,	दिगंबर कटिवस्त्र या मृगचर्म	,,	,,	महावाक्य	,,	,,
तुरीयातीत	भस्मस्नान	एक	नहीं	गोदर्श	दिगंबर	सोऽहम्	कोई नहीं	,,	ब्रह्म	निदिध्यासन
अवधूत	वायुस्नान	नहीं	,,	सर्प के समान	,	सोऽहम्	,,	,,	,,	,,

राजशेखर का प्रारंभिक जीवन : कुछ नवीन विचार

[श्री हरि अनंत फड़के]

कन्नौज के प्रतिहार सम्राट् महेंद्रपाल[1] के गुरु कविराज राजशेखर के प्रारंभिक जीवन को जानने के लिये हमारे पास साधन अल्प हैं। कवि के ग्रंथों में उसके प्रसिद्ध 'यायावर'[2] कुल और पूर्वजों का उल्लेख है जिनके आधार पर विद्वानों के लिये उसके प्रारंभिक जीवन की स्थूल रूपरेखा मात्र ही देना शक्य हुआ है।

किन परिस्थितियों में राजशेखर कन्नौज गया, किस प्रदेश में किस प्रकार उसका बचपन बीता, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधानकारक उत्तर ही उसके प्रारंभिक जीवन को स्पष्ट कर सकेगा। इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जिसने राजशेखर के आरंभिक जीवन को निश्चय ही प्रभावित किया होगा। राजशेखर का उल्लेख से कवियों ने किया है[3]। उसके ग्रंथों से हमें पता चलता है कि वह प्रतिहार सम्राट् महेंद्रपाल और महिपाल के दरबार में था। और बहुत संभव है, उसने मिहिरभोज का समय भी देखा हो। इस आधार पर उसका समय लगभग ई० सं० ८६० से ९३० तक निश्चित किया जा सकता है। उसकी अनेक रचनाओं को देखते हुए यह समय उसके लिये अधिक नहीं। वह महेंद्रपाल का गुरु था, अतः निश्चय ही उससे अवस्था में बड़ा रहा होगा। अतः उसके पिता मिहिरभोज का भी शासनकाल देखना राजशेखर के लिये असंभव नहीं था।

यह युग भारत के राजनीतिक इतिहास में अत्यंत महत्व का रहा है। इस युग में बंगाल और बिहार के पाल, मध्यदेश के प्रतिहार तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट अखिल भारतीय प्रभुता के लिये परस्पर निरंतर संघर्षरत रहे। गंगा और नर्मदा की

१. वि० भं० १, श्लोक ६; बा० रा १, श्लो० १८, क० मं० १, श्लो० ९।

२. महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले।—बा० रा० १, श्लो० १३।

३. राजशेखर के समय पर विस्तृत विवेचना के लिये देखिए—सुरु 'कर्पूरमंजरी' प्रस्तावना पृ० ४६ — १०६।

घाटियाँ कितनी ही बार रणभेरियों के घोष से गूँज उठीं। राष्ट्रकूट अभिलेखों[४] से हमें पता लगता है कि, उनकी विजयवाहिनी ने गंगाघाटी को अनेक बार आक्रांत किया। गौड़ों और प्रतिहारों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। इस विजय की स्मृति में गंगा और यमुना के चिह्न सदा के लिये उनके ध्वज पर अंकित हो गए।[५] कर्पूरमंजरी[६] में भी एक प्रसंग में उसके नायक चंडपाल द्वारा पूर्व देशों की विजय वर्णित है। संभवतः यह संकेत प्रतिहार और पालों के संघर्ष की ओर है। बिहार और बंगाल से प्राप्त प्रतिहार सम्राट् महेंद्रपाल के अभिलेखों[७] से हमें पता चलता है कि पूर्व में उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। इसी आधार पर चंडपाल और महेंद्रपाल में अभिन्नता स्थापित की जा सकती है दूसरी ओर यह संघर्ष प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच नर्मदा घाटी पर प्रभुत्व के लिये हुआ था। इस प्रदेश के प्रमुख राज्यों में लाट, मालव और सुराष्ट्र के प्रदेश थे। प्रतिहार शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ये प्रदेश समय समय पर उनके अधिकार में रहे। राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग के दशावतार अभिलेख[८] से उज्जैन में प्रतिहारों का अस्तित्व सिद्ध है। इसी प्रकार प्रतिहार शासक नागभट्ट प्रथम के सामंत भड़ौंच के चाहमान शासक भर्तृवड्ढ के हंसोट अभिलेख[९] से पता चलता है कि लाट देश पर भी प्रतिहारों का प्रभुत्व था। मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति[१०] से हमें ज्ञात होता है कि नागभट्ट द्वितीय ने आनर्त और मालव को जीता था।

४. गंगा यमुनयोर्मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः।
लक्ष्मीलीलारविंदानि श्वेतच्छत्राणि योऽहरेत्॥ श्लो० १४॥ सजान ताम्रपत्र।

५. यो गंगा यमुने तरंग सुभगे गृह्णन्परेभ्य समम्।
साक्षाच्चिह्न निभेन चोत्तमपदं, तत्प्राप्तवानीश्वरम्। एपि० इंडि०, भा ११, पृ० १५६ आलतेकर — अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन, पृ० २६४।

६. जय जय पुव्व दिसंगणाभुअंग, चंपाचंपककण्णऊर, लीलाणिज्जिअराढदेस, विक्कमक्कंत कामरूव, हरिकेलीकेलिआर, अवमण्णिदजअ सुवण्णवण्ण...।
—बुद्धप्रकाश, हिस्टारिकल ऐप्रोच टु कर्पूरमंजरी, कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिका।

७. भांडारकर, — 'उत्तर भारतीय अभिलेखसूची' नं० ४०, १६४३, १६४५ बनर्जी — 'मे० एशि० सो० बं०' भा० ५, पृ० ६६ और, स० इं०, रिपोर्ट १९२३-२४, पृ० १०२; १९२० २१, पृ० ३५।

८. आर० स० इं०, रिपोर्ट, भाग ५ पृ० ६२।

९. एपि० इंडि०, भा० १२, पृ० २०१।

१० वही, भाग १८, पृ० ९९-११४, श्लो० ११।

अन्यत्र[११] हमने यह दिखलाया है कि स्कंदपुराण और जैनग्रंथ बप्पभट्टिचरित के आधार पर सुराष्ट्र और गुजरात तक उसका प्रभाव सिद्ध हो जाता है। उसके प्रपौत्र मिहिरभोज के समय में सुराष्ट्र और काठियावाड़ पर प्रतिहारों के प्रतिनिधि शासन करते थे। उज्जैन के आसपास राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय के साथ मालव प्रदेश पर अधिकार करने के लिये उसने भयंकर संघर्ष किया था। एक राष्ट्रकूट शिलालेख[१२] के अनुसार तो परिवारों के बड़े बूढ़े उस भयंकर युद्ध की स्मृति बहुत बाद तक सुनाया करते थे। हमारे कविराज राजशेखर इसी मिहिरभोज के पुत्र महेंद्रपाल के गुरु थे।

अब प्रश्न यह है कि मिहिरभोज और राजशेखर का साक्षात्कार कहाँ हुआ? किस प्रसंग में वह कवि की प्रतिभा से प्रभावित हुआ और अपने पुत्र के लिये उपाध्याय के रूप में उसने उसको स्वीकार किया। अपने ग्रंथों में जिन प्रदेशों का वर्णन राजशेखर ने विशेष रूप से किया है उनमें कन्नौज के बाद लाट, विदर्भ और कुंतल देश आते हैं। उसके ग्रंथों में यदि कन्नौज की चर्चा है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात इसलिये नहीं कि कन्नौज प्रतिहार सम्राटों की राजधानी थी और राजशेखर वहाँ का राजगुरु था। लेकिन लाट, कुंतल और विदर्भ के प्रति कवि के मन में विशेष प्रेम है। क्या यह संभव है कि इन प्रदेशों में उसके पूर्वज रहते रहे हों, कवियों की वह परंपरा जिसमें राजशेखर का जन्म हुआ था इसी भूमि में निर्मित हुई हो या कवि का बचपन इन प्रदेशों के साथ संबद्ध हो? प्रश्न विचारणीय है। राजशेखर का 'यायावर' कुल ऐसा प्रतीत होता है, महाराष्ट्र का था। उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में कृष्णा नदी के बीच के प्रदेश को उस समय महाराष्ट्र कहते थे[१३]। इस व्याख्या के अनुसार विदर्भ, कुंतल और लाट के प्रदेश भी इसके अंतर्गत आ सकते थे। बालरामायण में राजशेखर के पूर्वज कवि अकालजलद को महाराष्ट्रचूड़ामणि कहा गया है[१४]। यायावर कुल के दूसरे कवि सुरानंद के संबंध में मि० आप्टे ने[१५] लिखा है कि वह संभवतः राजशेखर का प्रपितामह था, जिसके

११. ह० अ० फड़के—'बप्पभट्टिचरित्—ऐतिहासिक महत्व', श्री छोटेलाल जैन अभिनंदन ग्रंथ', कलकत्ता, १९६५।

१२. एपि० इं०, भाग ३, पृ० २४।

१३. नर्मदा कर्णाट विषयोर्मध्ये महाराष्ट्र विषयः। का० सू० द्वि० ५, २६ तथा उसपर यशोधर की जयमंगला टीका।

१४. तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य। बा० रा०, प्र० १३।

१५. आप्टेः -'राजशेखर, हिज लाइफ ऐंड राइटिंग्ज' पृ० १६।

कवित्व की उसने बालरामायण में प्रशंसा की है[१६]। सूक्ति मुक्तावली[१७] के एक उदाहरण में नर्मदा तथा चेदिराज रणविग्रह के साथ उसका वर्णन किया गया है। संभव है, सुरानंद चेदि राजाओं के दरबार मे रहा हो और इसी आधार पर राजशेखर ने भी बाद में चेदि राजाओं के दरबार में प्रवेश पाया हो। इसी कुल के एक अन्य कवि तरल के संबंध में प्रो० पिशेल को संदेह था, लेकिन जैसा कोनो ने[१८] लिखा है, सूक्तिमुक्तावली और हरिहरावली में राजशेखर के उद्धरण से इस संबंध में कुछ भी संदेह नहीं रहता। सुभाषित रत्नकोष में उद्धृत कविराज भी संभवतः इसी कुल का था।[१९] राजशेखर अपने को दौहिकि या दौर्दुकि कहता है[२०]। जिस तरह व्याकरण के नियमों के अनुसार दशरथ का पुत्र दाशरथी होता है उसी तरह दौहिकि या दौर्दुकि शब्द दुहिक या दुर्दुक से बने हैं[२१]। अगर यह व्युत्पत्ति मान ली जाय तो यह व्यक्ति महामंत्री था क्योंकि राजशेखर बालरामायण[२२] और बालभारत[२३] में अपना उल्लेख महामंत्री के पुत्र के रूप मे करता है। यह महामंत्री किस राज्य का था, और उसका राजा कौन था, ये नए प्रश्न इसके साथ ही उपस्थित होते हैं। सुराष्ट्र के महासामंत बलवर्मन और अवनिवर्मन के, जो प्रतिहारों के अधीन शासक थे, ऊना अभिलेखों[२४] में धीइक नामक तंत्रपाल का उल्लेख है जो प्रतिहारों के प्रतिनिधि के रूप में सामंतों का निरीक्षक नियुक्त हुआ था। इस अभिलेख के अनुसार चालुक्यवंशी बलवर्मन सूर्यमंदिर के निर्माणार्थ भूमि दी थी। इस दानपत्र पर बलवर्मन के साथ तंत्रपाल धीइक के हस्ताक्षर हैं। बलवर्मन संभवतः मिहिरभोज का सामंत था और महेंद्रपाल के समय तक जीवित रहा। तंत्रपाल प्रतिहार शासन

१६. सुरानंदः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा। बा० रा०, १३।

१७. नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानंदश्चेदि मंडन मंडनम्॥
कर्पूरमंजरी, कोनो, पृ० १८२।

१८. वही, पृ० १८३।

१९. आप्टे : 'राजशेखर' हिज़ लाइफ ऐंड राइटिंग्ज़', पृ० १६।

२० चतुर्थो दौर्दुकिः।—बा० रा० १३, अये यायावरेण दौहिकिना कविराज शेखरेण……वस्तुप्रपंचो गीयते। वि० भं० प्र०।

२१ दुहिकस्यापत्यं पुमानिति दौहिकिः।—वि० भं० टीका।

२२. उक्तं हि तेनैव महामंत्रिपुत्रेण।—बा० रा० प्र० ८।

२३. उक्तं हि तनैव महासुमंत्रिपुत्रेण।—बा० भा० प्र० ६।

२४. एपि० इंडि०, भा० ९, पृ० ४।

में एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी का पद था। उसका कार्यालय तंत्राधिकरण कहलाता था। अंग्रेजी सल्तनत में भारत में सामंतों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिये पोलिटिकल एजेंट हुआ करते थे। संभवतः तंत्रपाल भी उसी कोटि का पद था। सामंत राज्यों में भूमि के दान संबंधी महत्त्वपूर्ण विषयों में उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। प्रतिहार शासक महेंद्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख में[२५] चालुक्य सोमेश्वर के सूदी[२६], तथा बंगालके ईश्वरघोष के रामगंज[२७] ताम्रपत्रों में तंत्रपालों का उल्लेख है। यह इस बात का प्रमाण है कि तंत्रपाल और उसका कार्यालय इस समय तक शासन के महत्त्वपूर्ण अंग बन चुके थे। डा० जंब्रे[२८] ने धीइक और दुहिक को ध्वनिसाम्य के आधार पर अभिन्न व्यक्ति माना है। इस मत के अनुसार राजशेखर का पिता महामंत्री दुहिक ही तंत्रपाल घीइक था। संभव है, तंत्रपाल जैसे महत्त्वपूर्ण पद पर होने के कारण उसे महामंत्री कहा गया हो। सुभाषित रत्नकोष में अकालजलद से संबंधित एक श्लोक है[२९]। कुछ विद्वान् कहते हैं, यह अकालजलद का ही है। कोसंबी और गोखले ने अपने संपादित संस्करण में यह दिखाया है कि इस श्लोक की रचना द्रुंदुक ने की। हमारे विचार में द्रुंदुक और दुर्दुक में भी ध्वनिसाम्य स्थापित हो सकता है। यह संभव नहीं जान पड़ता कि प्रसिद्ध यायावर कुल में उत्पन्न होकर दुर्दुक या दुहिक के ऊपर कवित्व के कुछ भी संस्कार न पड़े हों।

महामंत्री तंत्रपाल दुहिक के संबंध में यह जानकारी निःसंदेह हमें उन परिस्थितियों को स्पष्ट करने में मदद देती है जिनके कारण राजशेखर का प्रतिहारों के दरबार से संबंध स्थापित हुआ। लेकिन हम इसके आधार पर उन परिस्थितियों को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं जिनके कारण राजशेखर के पिता को अपना देश

२५. एपि० इं०, भा० १४, पृ० १७६।

२६. वही, भा० १५, पृ० ७७।

२७. इंस्क्रिप्शंज आव बंगाल' भाग ३, पृ० १४१।

२८. उद्धृत : एन० जी० सुरू : कर्पूरमंजरी, प्रस्तावना, पृ० ११।

२९. भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिषक्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः।
पाठीनैः पृथुपङ्ककूट लुठितैर्यस्मिन् मुहुर्मूर्च्छितम्।
तस्मिन् शुष्क सरस्य कालजलदे नागस्य तच्चेष्टितं।
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते।

छोड़ना पड़ा। बालरामायण[३०] और काव्यमीमांसा[३१] में कवि ने लाट देश का वर्णन किया है। प्राकृत के प्रति उस देश के विशेष प्रेम की, वहाँ की परंपराओं की और वहाँ के स्त्री पुरुषों की कवि ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इस प्रदेश के साथ संपर्क होने से कवि में भी प्राकृत के प्रति प्रेम दिखाई देता है। इसी कारण संभवत उसने कर्पूरमंजरी की रचना प्राकृत में की और अपने दूसरे ग्रंथों में भी उसका भरपूर उपयोग किया। बालरामायण[३२] से हमें पता चलता है कि प्राकृत और अपभ्रंश पर कवि का विशेष अधिकार था। जीवन के अंतिम दिनों में भी कवि को लाट देश का स्मरण होता है।[३३]

लाट देश अपनी आर्थिक समृद्धि के लिये भी प्रसिद्ध था। बंदरगाहों के कारण इसका व्यापार दूसरे देशों के साथ चलता था। देश के अंदर व्यापार के मार्ग भी लाट से होकर जाते थे। इसके इस आर्थिक महत्व को ध्यान में रखकर ही महत्वाकांक्षी प्रतिहार और राष्ट्रकूट सम्राटों ने अपने साम्राज्य की समृद्धि के हेतु इसके लिये निरंतर संघर्ष किया। एक लेखक ने[३४] लिखा है, संभवतः स्तंभतीर्थ को एक बदरगाह के रूप में गुर्जर प्रतिहारों ने इसलिये विकसित किया था क्योंकि भड़ोच का बंदरगाह उनके शत्रु राष्ट्रकूटों के अधिकार में था। लाट के लिये संघर्ष भारत के राजनीतिक इतिहास में कोई नई घटना नहीं थी। थानेश्वर के वर्धनों और बादामी के चालुक्यों के बीच लाट, मालव और गुर्जर देश के लिये संघर्ष हुआ था। यह संघर्ष इस समय भी पुनः चल रहा था। जोधपुर के प्रतिहार

३०. बा० रा० १० श्लो० ८८–८९।

३१. का० मी० १; स्मरण रहे कि कर्पूरमंजरी की नायिका घनसारमंजरी और विद्धशालभंजिका में वर्णित मृगांकावलि लाट देश की ही राजकुमारियाँ थीं।

३२. गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृति मधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनं ॥
देशविशेषवशेन च भाषा श्रयणां दृश्यते।—बा० रा० १ श्लो० ११
तदुक्तम् गौडाधाः संस्कृतस्थाः परिचित रुचयः प्राकृये लाटदेश्याः॥का० मी० १०;
महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्ति रत्नानां सेतु बंधादि यन्मयम् ॥ —कव्यादर्श १; ३४।

३३. लाटी बाहुविवेष्ठितश्च मलयस्त्रीतर्जनी तर्जितः।
सोऽयं संप्रति राजशेखरकविर्वाराणसी वांछति ॥— औचित्यविचारचर्चा, २०।

३४. मजूमदार : चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० २६२

शासक कक्कुक[२५] के ई० स० ८५६ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने लाट देश पर विजय प्राप्त की थी। यह संभव है कि उसने सम्राट् मिहिरभोज के साथ लाट के युद्ध में भाग लिया हो, क्योंकि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मिहिर-भोज का साम्राज्य सौराष्ट्र तक विस्तृत था।

लाट देश के ब्राह्मणों की दूर दूर तक ख्याति थी। बंगाल के राजा धर्मपाल के लखीमपुर के अभिलेख[२६] से हमें ज्ञात होता है कि लाट के ब्राह्मणों को उसने भूमिदान दिया था। ग्वालियर के एक अभिलेख[२७] से यह सिद्ध होता है कि लाट के लोगों को ऊँचे पद पर नियुक्त करने के लिये मध्यदेश में भी आमंत्रित किया जाता था। प्रतिहार सम्राट् रामभद्र के शासन में वरजार वंश के नागरभट्ट के पुत्र वल्लभट्ट को, जो लाट के आनंदपुर का था, 'मर्यादाधुर्य' बनाया गया था। उसका पुत्र अल्ल मिहिरभोज के द्वारा ग्वालियर का दुर्गपाल नियुक्त हुआ था।[२८] लाट के इस वंश की तरह ही, संभव है, राजशेखर और उसके पिता दुर्दुक ने भी प्रतिहारों के शासन में कीर्ति अर्जित की थी।

अब हमें एक दूसरे और अंतिम प्रश्न का उत्तर देना है। दक्षिण के राष्ट्रकूट भी कला और साहित्य के संरक्षक थे। उनके दरबार में दुहिक और राजशेखर ने आश्रय क्यों नहीं लिया ? लाट और कुंतल उनके अधिकार में थे। लाट देश पर तो उनकी ही एक शाखा राज्य कर रही थी। ई० स० ८३५ के बाद मान्यखेट और लाट के राष्ट्रकूटों (जिनके देश में राजशेखर का बचपन बीता) अनेक वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष में लाट देश को अपार क्षति उठानी पड़ी। वहाँ के शासक ध्रुव प्रथम को इन युद्धों में अपने प्राण गँवाने पड़े। उसके पुत्र अकालवर्ष को अपनी गद्दी से हाथ धोना पड़ा। बहुत प्रयत्नों के बाद वह उसे पुनः प्राप्त करने में सफल हो सका। उसके पुत्र ध्रुव द्वितीय के समय

२५ एपि० इंडि०; भा० ६, पृ० २१०, ई० स० ८५६।

२६ वही, भा० ४, पृ० २४३–२४४ पंक्ति ५१।

२७. वही, भा० १, पृ० १५६–२७ श्लोक ७।

१८; वही, पृ० १५४।

में भी यह संघर्ष चलता रहा[३९]। एक अभिलेख[४०] के अनुसार उसे एक ओर प्रबल गुर्जरों का और दूसरी ओर वल्लभ का सामना करना पड़ा। ये गुर्जर, सम्राट् मिहिरभोज और उसका सामंत जोधपुर का प्रतिहार शासक कक्कुक थे। अभिलेख में वर्णित वल्लभ राष्ट्रकूट शासक ही हो सकता है। मान्यखेट के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष की, जो इस समय शासन कर रहा था, एक पदवी वल्लभ भी थी और वह प्रतिहारों का शत्रु था। पटियाला अभिलेख में वर्णित लाट की विजय का संबंध भी इस समय की घटनाओं से है। युद्ध को इस अस्थिर परिस्थिति के कारण मिहिरभोज के द्वारा लाट की विजय के बाद ही संभवतः राजशेखर और उसके पिता कन्नौज के दरबार में आश्रय ग्रहण किया।[४१] घटियाला अभिलेख का समय ई० स० ८५६ है। लाट के विजय की घटना इससे पहले की है अतः इसका समय ८५७ के लगभग होना असंगत नहीं। उस समय राजशेखर बहुत ही छोटा रहा होगा, लगभग ६-७ वर्ष का। बचपन के संस्कारों के अतिरिक्त अपने पिता के द्वारा भी उसने अपने देश के बारे में सुना होगा। अपने जीवन में उसने यात्राओं के द्वारा भी बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया था, ऐसा उसके ग्रंथों से परिलक्षित होता है। यह स्मरण रहे कि उस युग में राज्यों में परस्पर संघर्ष होने पर भी लोगों की यात्राओं में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। अनेक कवि, विद्वान् और साधु संत

३९. ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कि अल्तेकर महोदय ने (द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन्, भाग १ पृ० २८) लिखा है लगभग ई० स० ८६० में लाट और मान्यखेट में संधि हो गई क्योंकि दोनों ही राज्यों को प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज के आक्रमण की आशंका थी जो इस समय बहुत प्रबल हो रहा था। संभव है, इसका कारण मिहिरभोज के द्वारा लाट की विजय हो। मिहिरभोज लाट और मान्यखेट के राजाओं की संमिलित शक्ति के कारण लाट को अधिकार में न रख सका। बेगुम्रा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है ध्रुव द्वितीय ने ई० स० ८६७ के पूर्व गुर्जरों को अकेले ही हराया था। बहुत संभव है कि उसे सम्राट् अमोघवर्ष का भी सहयोग प्राप्त रहा हो।

४० इंडि० ए०, भा० १२, पृ० १७६, श्लोक २७।
इतोऽभिमुखमापतत्प्रबल गूर्जराणां बलम्।
इतो विमुख वल्लभो त्रिकूतिमागताः मान्धवाः॥

४१. अपने पिता के प्रभाव के कारण संभवतः चौहान राजकुमारी अवंतिसुंदरी के साथ उसका विवाह हुआ हो। क्योंकि चौहान भी प्रतिहारों के ही सामंत थे।

स्वच्छंद भाव से विभिन्न राज्यों में आ जा सकते थे। प्रतिहारों का राजकवि होने पर भी राजशेखर का अपने देश लाट के साथ संबंध बना रहा और इसी कारण उसके प्रति भावना कवि ने अपने साहित्य में व्यक्त की।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(१) राजशेखर मिहिरभोज का भी समकालीन था। उसकी लंबी आयु को देखते हुए यह असंभव नहीं। उसका प्रारंभिक जीवन इसी राजा के संरक्षण मे बीता था।

(२) राजशेखर का पिता दुर्दुक या दुहिक ऊना अभिलेख मे वर्णित धीइक था जो मिहिरभोज का तंत्रपाल था, इसी कारण संभवतः राजशेखर अपने पिता का उल्लेख महामंत्री के रूप में करता है।

(३) राजशेखर लाट देश का निवासी था। इस प्रदेश के लिये प्रतिहार और राष्ट्रकूट निरंतर संघर्ष करते रहे। पटियाला अभिलेख के अनुसार जोधपुर के प्रतिहार शासक कक्कुक ने लाट देश की विजय की थी। एक छोटे शासक के लिये लाट तक आक्रमण करना संभव नहीं जान पड़ता। संभव यह जान पड़ता है कि उसने अपने सम्राट् मिहिरभोज के साथ इस युद्ध में भाग लिया। कर्पूरमंजरी में वर्णित वल्लभराज अमोघवर्ष था जिसके समय में लाट और मान्यखेट के बीच भयंकर संघर्ष चल रहा था। इन अस्थिर परिस्थितियों के कारण ही संभवतः राजशेखर ने अपने पिता के साथ देशांतर गमन किया था। उस युग की प्रधान राजनीतिक प्रवृत्ति त्रिकोणात्मक संघर्ष की ध्वनि भी उसकी रचनाओं मे मिलती है।

(४) राजशेखर के प्रारंभिक जीवन का क्रम कुछ इस प्रकार हो सकता है—लाटदेश में बचपन, लाट और मान्यखेट तथा लाट और कन्नौज के बीच संघर्ष क समय अपने पिता के साथ देशांतर गमन, कन्नौज के तंत्रपाल के रूप में उसके पिता की सुराष्ट्र में नियुक्ति, राजशेखर का उपाध्याय होना, तथा प्रतिहारों के ही किसी सामंत चौहान कुल की राजकुमारी से विवाह।

*

रीतिकाल से पूर्व का खड़ी बोली गद्य

[डा० प्रेमप्रकाश गौतम]

हिंदी के प्राचीन गद्य वाङ्मय की समुचित शोध अभी तक नहीं हुई है। वस्तुतः इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यह मान लिया गया है कि भारतेंदुपूर्व की गद्यपरंपरा अत्यंत क्षीण थी। समसामयिक हिंदी लेखक प्रायः आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास को आधार बनाकर लिखते हैं। नवीन अनुसंधान की ओर वे यथोचित ध्यान नहीं देते। परिणाम यह है कि आचार्य शुक्ल की एतद्विषयक मान्यताएँ और उनसे हुई भूलें—विद्वज्जन क्षमा करें—ज्यों की त्यों उद्धृत होती चली आ रही हैं। प्राचीन गद्य पर शोध करते हुए इस अनुसंधायक को बहुत सी अज्ञात रचनाओं का परिचय तो प्राप्त हुआ ही है, यह भी विदित हुआ है कि आचार्य शुक्ल प्रभृति विद्वानों की एतद्विषयक अनेक सूचनाएँ और स्थापनाएँ वास्तविकता के विरुद्ध हैं।

भारतेंदुपूर्व के गद्य के संबंध साधारणतः यह धारणा है कि वह अत्यंत अल्प और हीन है। यह सत्य है कि पुरातन गद्य आधुनिक गद्य की अपेक्षा लघु एवं अविकसित है, परतु वह इतना अल्प और तुच्छ नहीं, जितना साहित्येतिहास के लेखक उसे बताते रहे हैं। राजस्थानी, व्रजभाषा, दक्खिनी और मैथिली में ही नहीं, खड़ी बोली में भी भारतेंदु के पूर्व पर्याप्त गद्य निर्मित हुआ है जो मौलिक, अनूदित, ललित, अललित, पद्यात्मक विशुद्ध, अनेक रूपों का है। गद्य की बहुत सी विधाएँ और शैलियाँ प्राचीन काल में प्रचलित थीं। उनका प्रयोग विविध बहुल विषयों की अभिव्यक्ति के लिये होता था। १८५० ई० पर्यंत उपयोगी कथात्मक तथा धार्मिक गद्य ही नहीं, वर्णनात्मक, विचारात्मक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक गद्य का भी प्रभूत परिमाण में प्रणयन हो चुका था। वस्तुतः हिंदी का प्राचीन और मध्यकालीन गद्य पर्याप्त समृद्ध और महत्वपूर्ण है। टीकाओं का गद्य भी अधिकांशत स्वच्छ और सशक्त है। मारवाड़ी और मैथिली में, इन्हें हिंदी के अंतर्गत माना जाए या न माना जाए, गद्य की परंपरा क्रमशः १३वीं–१४वीं शती से प्रारंभ होती है। व्रजभाषा में भी १६वीं शताब्दी से समृद्ध और बहुमुखी गद्य वाङ्मय प्राप्त होता है। पूर्वी हिंदी की मैथिलीतर शाखाओं (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी आदि) में अवश्य प्राचीन गद्य वाङ्मय अत्यंत विरल है।

जहाँ तक खड़ी बोली गद्य का प्रश्न है, उसकी परंपरा प्रामाणिक रूप में ईसा की १७वीं शती से उपलब्ध होती है। दक्खिनी के रूप में तो इस बोली का गद्य वाङ्मय १५वीं शताब्दी से प्राप्त है, परंतु १७वीं शती से पूर्व का उत्तर भारत में निर्मित प्रामाणिक खड़ी बोली गद्य अभी तक अनुपलब्ध है। १७वीं शती और उसके बाद की उपलब्ध खड़ी बोली रचनाओं की ललित अललित के भेद से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ललित के भी अनेक रूप हैं—वारता, वात, कथा कहानी, वचनिका, दवावैत और पत्र। अललित गद्य धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, शकुन, इतिहास, भूगोल, गणित, धनुर्विद्या आदि विषयों पर प्राप्त होता है। उसके अन्य रूप हैं—टीका, टिप्पण, तफसीर, शिलालेख, पत्र, समाचारपत्र आदि। सानुप्रास और अनुप्रासरहित, की दृष्टि से भी प्राचीन गद्य वाङमय का वर्गीकरण हो सकता है। प्राचीन और मध्यकाल में तुकमय गद्य की प्रवृत्ति राजस्थानी, मैथिली, दक्खिनी, उर्दू, खड़ी बोली आदि प्राय: सभी भाषाओं में रही है। गद्य पद्य के समावेश की दृष्टि से खड़ी बोली की भारतेंदु युग से पूर्व की गद्य रचनाएँ स्थूलतः त्रिविध हैं—(क) पूर्ण गद्य की रचनाएँ, यथा—'गेग्रोसगोसठ', भोगलु पुरान', 'सीधा रस्ता', 'कलिमतुलहकायक', 'मोक्षमार्ग प्रकाश', (ख) गद्य-पद्यमय-रचनाएँ, यथा—कुतुबुद्दीन री बात और (ग) यत्र तत्र पद्योद्धरणवाली गद्यप्रधान कृतियाँ, यथा—'सबरस'। इसके अतिरिक्त मौलिक और अमौलिक (टीकानुवादात्मक) के भेद से भी खड़ी बोली की प्राचीन गद्य रचनाओं को वर्गीकृत किया जा सकता है। मौलिक की अपेक्षा व्याख्यात्मक तथा अनूदित रचनाओं का आधिक्य है।

राजस्थानी तथा ब्रजभाषा की अनेक प्राचीन गद्य रचनाओं में खड़ी बोली शैली के शब्दरूप यत्र तत्र दृष्टिगत होते हैं।[१] दक्खिनी की

१ इस प्रकार की कुछ रचनाएँ हैं—'षडावश्यकबालावबोध,' 'उपदेशमाला-बालावबोध,' 'पृथ्वीचंद्रचरित्र,' 'आदिनाथचरित्र,' 'धनपालकथा', 'अचलदास खीची री वचनिका,' 'मुरकलानुप्रास' (राजस्थानी ग्रंथ), श्रीहितहरिवंश जी से संबद्ध पत्र, 'अगहनमाहात्म्य,' 'वैसाखमाहात्म्य', 'नासिकेतपुराण-भाषा' और 'वार्ता' ग्रंथ। १४वीं-१५वीं शती के मलफूजात अर्थात् मुसलमान संतों के लिखित प्रवचनों से संबद्ध ग्रंथों (सियरुलग्रौलिया, खैरुलमजालिस, सुरूरुस्सुदूर आदि) में भी खड़ी बोली के वाक्य प्राप्त होते हैं। इनमें मिलनेवाले कुछ वाक्य हैं—'खोजा बुरहानुद्दीन बाला है', 'पोनू का चाँद भी बाला होता है, 'रह रह, 'तू मेरा गुसाईं, 'तू मेरा करतार, मुझ इस वप थई छुटा, जो मुबासा बाँधे सो पाइन पसरे, 'अरे मौलाना यह बड़ा हीसी। मौलवी

१५ वीं–१६ वीं शती की पुस्तकों में तो इस बोली के रूप और प्रयोग प्रचुरतः प्राप्त होते हैं। उत्तर भारत में जहाँगीर अशरफ समनानी नामक सूफी संत द्वारा १४वीं शताब्दी में उर्दू शैली में निर्मित बताई जानेवाली 'अखलाको तसव्वुफ' शीर्षक रचना और दक्खिनी के शेख ऐनुद्दीन गंजुलइल्म की दक्खिनी पुस्तकों की प्रामाणिकता तो संदिग्ध है, परंतु गेसूदराज, बुरहानुद्दीन जानम वजही, मौला अब्दुल्ला आदि दक्खिनी लेखकों की अनेक छोटी बड़ी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें किंचित् अंतर के साथ प्रायः खड़ी बोली शैली का ही गद्य प्रयुक्त है। उत्तर भारत में खड़ी बोली में निर्मित गद्य रचनाएँ १७ वीं शती से प्रामाणिक रूप में प्राप्त होती हैं। गंग कवि रचित बताई जानेवाली 'चंद छंद बरनन की महिमा' की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[1] 'योगाभ्यास-मुद्राटिप्पण', जिसे काशी की ना० प्र० सभा के खोज विभाग ने सिद्ध कुमरिपा कृत प्राचीन खड़ी बोली रचना घोषित किया है, वस्तुतः परवर्ती रचना है। मूल संस्कृत कृति सिद्ध कुमरिपा (अथवा कुमुटीपा) की रचित प्राचीन रचना हो सकती है, उसका टिप्पण बहुत बाद का है। फिर इस टिप्पण में खड़ी बोली के शब्द अत्यल्प हैं। वस्तुतः जैसा हम लिख चुके हैं, इस शैली की १७वीं शती से पूर्व की प्रामाणिक गद्य रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। कुछ रचनाएँ प्राचीनतर प्रतीत होती हैं। परंतु उनके समय के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की तीन महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं—'कुतुबशत' (प्रति सं० १६७०), 'भोगलु पुराण' (प्रति सं० १७६२) तथा 'गणेश गोसठ' (प्रति सं० १७१५)। इनके अतिरिक्त नवबोली छंद, नवभाषा, सकुनावली, 'महादेव गोरखगुष्टि' 'गोरक्षशतमटिप्पण' आदि रचनाओं में भी खड़ी बोली का प्रयोग प्राप्त होता है। ये सभी रचनाएँ

अब्दुल हक ने 'उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा में सूफीयाये कराम का काम' पुस्तक में फारसी के कुछ अन्य ग्रंथों से भी खड़ी बोली के वाक्य उद्धृत किए हैं जो इन ग्रंथों में यत्र तत्र आए हैं। राजा मानसिंह से संबद्ध एक फरमान में भी खड़ी बोली गद्य की कुछ पंक्तियाँ प्रयुक्त हैं। (देखिए–बंगाल पास्ट ऐंड प्रेजेंट, जिल्द ६६)

१ इस रचना के प्रकाशित पाठ में अपभ्रंश की प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव और 'ऊपर विराजमान हो रहे', 'भरने लगा है', करके 'बैठ जाया करे', 'इतना सुनके चारण को दिया', हो गया, 'हुआ' ऐसे अर्वाचीन प्रयोगों और रूपों का समावेश इसे परवर्ती सिद्ध करता है। 'करके, 'सुनके, ऐसे पूर्वकालिक कृदंत १८ वीं शती की खड़ी बोली रचनाओं में भी बहुत कम प्राप्त होते हैं।

प्रायः लघुकाय हैं और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ही इनकी कुछ उपयोगिता मानी जा सकती है। इन रचनाओं में खड़ी बोली ब्रजभाषा और राजस्थानी या पंजाबी के साथ प्रयुक्त हुई है। १८ वीं शती की प्रतियाँ प्राप्त होने से और इनकी भाषा में प्राचीनता के पर्याप्त चिह्न होने से इन रचनाओं के समय के संबंध में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये रीतिकाल से पूर्व की हैं।

उल्लिखित रचनाओं में 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीन री वात') तथा 'भोगलु पुरान' (भूगोल पुराण) में खड़ी बोली शैली के शब्दरूप अपेक्षाकृत अधिक हैं। इनमें भी तत्कालीन जनभाषा के रूप की दृष्टि से कुतुबशतम' अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त खड़ी बोली राजस्थानी तथा ब्रजभाषा से प्रभावित है। इतर प्राचीन खड़ी बोली रचनाओं में भी ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी अथवा पूर्वी हिंदी से प्रभावित खड़ी बोली प्रयुक्त है। यह विभाषामिश्रण खड़ी बोली के उस समय दुर्बल तथा साहित्यक्षेत्र में अप्रतिष्ठित होने और गद्यकारों के अपनी प्रादेशिक बोली के संस्पर्श से बच न पाने के कारण है।

इन रचनाओं में एक ओर 'अम्हे', 'अमे', 'तुम्हें', 'अम्हारा', 'उत्पन्या', 'कउन', 'आउर', 'जलकीआ 'उत्पन्निआ', 'उत्पते', 'कथंति' 'भ्रमते', 'घरा', 'बूढा', 'पावइ', 'जाणयौं' ऐसे पुराने रूप हैं, दूसरी ओर 'पवतो', 'आँखों', 'देवों', 'यह', तुम', 'हम', 'तुमाहारा', 'जिसका', 'मारा', 'मीठा', 'ग्यारां', 'बड़ा', 'आया' 'गावणा', 'सुनो', 'आवते', 'जाते', 'हो रहते', 'चाहता है', 'बैठा था', 'खुलावती थी', 'आकर खड़ा रहा', ऐसे आधुनिक ढंग के शब्दरूप और प्रयोग उपस्थित हैं। अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। 'कुतुबशत' में तो जो अर्धशिक्षित जनता के निमित्त लिखी गई है, भाषा प्रायः तद्भवनिष्ठ है। यत्र तत्र उकारांत संज्ञासर्वनाम और स्वर-संधि-रहित उद्वृत्त रूप — 'कउन, कहइ, करउ, तउ' जैसे रूप भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। बहुवचन की विभक्तियाँ हैं — आ, यां, नि, न, । कर्तृ संज्ञा के रूपों में 'हार' परसर्ग मिलता है जिसके पूर्व 'नि' अथवा 'न' है। सर्वनाम रूप प्राचीन-अर्वाचीन दोनों प्रकार के हैं। आकारांत विशेषण लगभग सभी रचनाओं में हैं। बहुवचन अविकारी और एकवचन विकारी विशेषण पद प्रायः एकारांत हैं, यथा — ऐसे, जेते, ऊँचे (भूगोल पु०), दाहिणे (महादेव-गो०-सुष्टि)। पुलिंग विशेषण के विकारी बहुवचन रूप प्रायः 'आ' विभक्त्यंत हैं। यथा — बडाँ बूढ़ाँ के उट साफ करउ (कुतुबशत)। खड़ी बोली के कारक-चिह्नों में प्रायः 'से', 'का' 'में' 'पर' चिह्न ही मिलते हैं। 'भूगोलपुराण' में संबंधकारक का स्त्री० बहुवचन का परसर्ग 'कीआँ' है — 'जलकीआँ, नदीआँ बहतीआँ हैनि' और 'मेराजुल आशिकीन' में 'क्यों' — यथा — 'मेराज

क्यों निशानियाँ'। शब्दरूपों में, विशेषकर कारकचिह्नों में बहुत अस्थिरता और अनेकरूपता है। इसका कारण ब्रजभाषा आदि निकटवर्तिनी भाषाओं का संस्पर्श और खड़ी बोली का उस समय तक व्याकरणबद्ध न हो पाना है।

सं० १७०० से पूर्व का जो खड़ी बोली गद्य उपलब्ध है उसमें क्रिया का सम्यक् विकसित प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। क्रियारहित वाक्य भी प्रयुक्त हैं। संयुक्त क्रिया का प्रयोग प्रायः विरल है। संयुक्त काल का प्रयोग 'कुतुबुद्दीन री बात' और 'भोगलपुरान' में अपेक्षाकृत अधिक है। इनमें कृत पद अधिक हैं, यथा—होइ है, धरे है, चाहता है, पिछाणताऊँ, करते हुइ, बैठा था, 'पुलावती थी', इत्यादि। 'भूगोलपुराण' की एक प्रति में 'चलते ही', 'बैठे हैं', ऐसे अर्वाचीन रूप भी हैं। गोरखपंथी रचनाओं में प्राचीन रूप और प्रयोग अधिक हैं। इनमें सामान्य वर्तमान काल के रूप प्रायः तिङंत हैं — यथा— कहै, बूझ, श्राव, ऊतपतसे (गोरषग० गुष्टि), कथंति, उतपते, अनुसरै, मोगवै. ('महादेव-गोरष-गुष्टि')। इन रचनाओं में कृदंत पद कम हैं। 'दिस्ता' ऐसे व्यंजनाद्वित्ववाले रूप, 'अंचवतं', 'अनुसरै', ऐसी नामधातु तिङंत क्रियापद और 'बहतीश्राँ हैनि', इस प्रकार के 'आँ' विभक्तिवाले स्त्री बहुवचन वर्तमान कृदंत भी प्रयुक्त हैं। —संज्ञा कृदंत के पदात 'अ' -'आ' दोनो हैं परंतु उनमें प्रायः 'न' के स्थान पर 'ण' है और उसके पूर्व कहीं कहीं व यथा ध्यावणा, गावणा,। पूर्वकालिक कृदंत अधिकतर इकारात हैं। 'कर' परसर्गांत पूर्वकालिक प्रायः 'कुतुबशत' की परवर्ती प्रतियों में प्राप्त होते हैं। भूतकालिक (पूर्ण) कृदंत पु० एकवचन में आकारात,'इआ' अथवा 'या' अथवा विभक्त्यंत और ब्रजभाषा-शैली के 'इआ' इओ अंतवाले — तीनो प्रकार के हैं — यथा— आया, कह्या (गोरष-गु०-गुष्टि) कीया, हुआ, कहा, कह्या, रहा, भया (कु० बात), रहिआ, रहिओ, 'उत्पत्तिओ' (भूगोल पु०)। इनके बहुचन रूप अधिकतर एकारात हैं। कहीं कहीं अकारांत भी हैं। भविष्यकाल में भी आकारांत पद प्राप्त होते हैं। इनमें 'गा' के पूर्व प्रायः 'य' अथवा 'इ' है; यथा — होयगा, होइगा ('कु० बात')। 'कुतुबुद्दीन री बात' की परवर्तिनी प्रतियों में 'था, थी, थे', और 'है, हैं, हूँ' का भी प्रयोग मिलता है। साथ ही, 'हइ', 'ऊँ', 'हैन' ऐसे रूप भी। 'भूगोल पु०' में तात्कालिक कृदंत 'चलते ही' भी एक स्थल पर आया है। 'कु० बात' में भी 'इतनी बात करतां ही' प्रयोग मिलता है। अन्य प्रवृत्तियां हैं — पुराने ढंग के और प्रायः ब्रजभाषा शैली के अस्थिर और वैविध्यपूर्ण अव्यय; यत्र, तत्र, पंजाबी, 'तद', 'कदी', आदि अव्यय, यत्र तत्र कारकचिह्नों का अभाव, प्रायः लघु सरल वाक्य, उनके साथ जहाँ

† आकारांत शब्दों के पुल्लिंग अविकारी रूप अधिकतर एकारांत हैं।

तहाँ मिश्र संयुक्त वाक्य, भूतकाल की सकर्मक क्रिया का प्रायः कर्मणि प्रयोग, साथ ही अप्रत्यय कर्तावाले, साहिबाँ खबर पाई', 'साहिबा कही', 'ढढणी प्रसाद कीया' ('कु० वात') ऐसे प्रयोग कहीं कहीं वाक्यारंभ में 'सो' का प्रयोग और शब्दक्रम का आधुनिक हिंदी से प्रायः अभिन्न होना। कुछ उद्धरण दिए जाते हैं: एक दिवसि साहिबा ढढणी कू षाणा पुन्नावती थी। ढढणी प्रसाद कीया। साहिबा तुझ कुँ क्या उपगार करूँ। हम कूँ क्या उपगार करहुगे, हम रे बडाँ बूढ़ाँ के उट साफ करउ। तेह उ अवर क्या उपगार करउगे, ('कुतुबशतम्', पुरातत्वमंदिर जयपुर, में स्थित सं० ६७० की प्रति, प्रथम पत्र)। ऐसा कुतुबदी साहजादा दिल्ली बीच पिगेसाह पातस्याह का साहजादा भया। दौलतदौँ फकीर की लड़की साहिबा से आसिक रह्या। बहुत दिनाँ प्रीत लागी। दुखपीड आपदा सहुँमागी। पीरोसासि का तखत पाया। साहजादा साह कहाया। यह सिफ्त कुतुबद्दीन साहजादे की पढ़े बहुत ही वजन सुख से बढे। यह बात शाह जुग से रही। ढढणी ने जोड़कर कही। (कुतुबशतम् — भंडारकर ओ० इं० की सं० १७८६ की प्रति) सूरजु उयंचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्तु होता है। सूरज चलते ही सिख्या टोइ सहस्र जोजन एक निमिष महि सूरज चलता है। देवते रखिया करते हैं। शब्द सुनते हैं। पर अखो देखते न हैं। अमीजल अँचवते हैं (भोगलु-पुरान) गेणेस बुज गोरष कहै। स्वामी जी तूम काहाँ त आया। काहा तुमाहारा नाव। अवधू हम निरत्रतं आया। जोगी है मारा नाव। स्वामी जी जोगी ते तो कून बोलिबे। स्वामी पृथ्वी का कौण बरण, आपका कौण बरण, तेज का कोण; बरण, बाई का कोण बरण, आकास का कौण बरण, ... 'गौरषगणेश गुष्टि', 'सेवादास की बानी' नामक गुटका, पत्र ६३२ ३३).

खड़ी बोली का दक्खिनी शैली का गद्य भी १६वीं शती से ही प्रामाणिक रूप में प्राप्त होता है। ख्वाजा गेसूदराज बंदानवाज के नाम से विख्यात 'मेराजुल आशकीन', 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' आदि ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। शाह मीराँजी शम्सुल उश्शाक के नाम से प्रसिद्ध 'गुलबास', 'जलतरंग', 'शरहमरग्बुल कुलूब' और 'सबरस' तो और भी अप्रामाणिक हैं। गेसूदराज कृत 'मेराजुल आशिकीन' अपेक्षाकृत प्रामाणिक है क्योंकि डा० अब्दुलहक को, जैसा उनका कहना है, मेराजुल आशिकीन की १४६६ ई० और १५०३ ई० की दो समान पाठवाली प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त इसकी चर्चा ख्वाजा के शिष्य मु० अब्दुल्ला के 'इश्कनामा' में भी मिलती है। वस्तुतः अपने मूल और प्रामाणिक रूप में प्राचीन दक्खिनी गद्य की बहुत कम रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्राप्त प्रतियों में प्रायः कालनिर्देश नहीं है। भाषा भी उनमें अधिकतर परिवर्तित है, लिपिकों द्वारा बदल दी गई है। 'मेराजुल आशिकीन' भी जिस रूप में प्राप्त है, १५वीं शती की प्रतीत नहीं होती। उसकी

भाषा पर्याप्त परवर्ती है और अन्य दक्खिनी रचनाओं की अपेक्षा उत्तर भारत की खड़ी बोली के अधिक निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि ख्वाजा गेसूदराज, शाह मीराजी शम्सुलउश्शाक आदि सूफी संतों के कुछ फारसी ग्रंथों के उनके अनुयायियों द्वारा किए गए दक्खिनी अनुवाद इन संतों के नाम से उनकी मौलिक कृतियों के रूप में प्रसिद्ध हो गए हैं। 'मेराजुल आशिकीन' के अतिरिक्त प्राचीन दक्खिनी गद्य की अन्य महत्वपूर्ण और विश्वसनीय कृतियाँ हैं— बुरहानुद्दीन जानम कृत 'कलिमतुल् हकायक (१५८० ई० के लगभग), मौला अब्दुल्ला कृत 'अहका-मुस्सलात' (१६२३), मुल्ला वजही का 'सबरस' (१६ ६ और अब्दुस्समद लिखित 'तफसीर बहावी' (१५८ के लगभग)। इनमें प्रथम प्रश्नोत्तर शैली में लिखित सिद्धांत विषयक, द्वितीय इस्लाम संबंधिनी, तृतीय अन्योक्ति पद्धति की सूफी प्रेमकथा और चौथी कुरान की व्याख्या है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त १६वीं शती से लेकर १९वीं शती तक दक्खिनी में सैकड़ों अनूदित और मौलिक गद्य-ग्रंथ निर्मित हुए हैं जिनमें कुछ कथात्मक, कुछ इतिहास विषयक तथा कुछ चिकित्सा विषयक भी हैं। दक्खिनी गद्य अधिकतर सूफी और इस्लामी संतों द्वारा निर्मित हुआ है और अधिकांशतः अललित, धार्मिक तथा उपदेशात्मक है। जिन रचनाओं में ललित गद्य है उनमें प्रायः गद्य का सानुप्रास रूप प्रयुक्त है। वजही के 'सबरस' में भी अधिकांशतः तुकमय गद्य ही है।

दक्खिनी की इन रचनाओं की भाषा कुछ बातों में भिन्न होने पर भी खड़ी बोली के अत्यंत निकट है संज्ञा बहुवचन के रूप राजस्थानी और पंजाबी के समान प्रायः 'आँ', 'याँ' विभक्तिवाले हैं। बहुवचन विशेषण रूपों और विशेषण कृदंतों में भी विशेष्य के अनुसार 'आँ', 'याँ' विभक्ति है। कर्ता प्रत्यय 'ने' का प्रायः अभाव है। संबंध कारक का स्त्री बहुवचन का प्रत्यय क्याँ' है— 'मेराज क्याँ निशानियाँ' (मेराजुल आशिकिन)। अनेक सर्वनाम उत्तर की खड़ी बोली से भिन्न हैं यथा—हमे, हमन, हमना, तुमे तुमन, तुमना, ए, यू, इने, उने, अपे, अपस, अपन्या, कवन, तेते, निते, किते, जेतियाँ, तेतियाँ। बहुत से क्रियारूप भी खड़ी बोली से भिन्न हैं यथा होसी, लेसूँ, देको, पंपव्या, अछ, अह, इय, थ्याँ। दक्खिनी में ऐसे अव्यय भी हैं जो खड़ी बोली में नहीं हैं। च, छ, होर, नको, जयाँ, तयाँ, आवें, लगात, घताल, अताल, नेमे, नमेन, घात, इत्यादि। कई संज्ञा शब्द भी असमान हैं—यथा—डोसा (बूढा), झाँप (छलाँग), खुई (पसीना), तमा (लालच), अँझू (आँसू), ठार (स्थान), खिलारा (खिलानेवाला), पलाओ (बुलाओ), लहे, गल (बात)। इनमें से कुछ शब्द तो ब्रजभाषा के तद्भव रूप हैं, कुछ मराठी, पंजाबी आदि के हैं। यत्रतत्र संस्कृत शब्द भी हैं, विशेषकर बुरहानुद्दीन जानम कृत 'कलिमतुल हकायक' और वजही कृत 'सबरस' में। परंतु फारसी अरबी के शब्दों का समावेश अधिक है।

वाक्यरचना भी फारसी से प्रभावित है। शब्दक्रम, और समासरचना प्रायः उसी प्रकार की है—वजूदे खाके तेरे जिक्रे बगैर (वजूदुलआरफीन) के जद अमर हता उसमें (कलिमतुल हकायक) गुनाहू कबीरा' हातों दोनों' (अहकामुस्सलात)।

प्राचीन दक्खिनी गद्यभाषा की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं—कहीं तो कारकचिह्नों का बिलकुल अभाव और कहीं दुहरे कारकचिह्नों का प्रयोग, 'ठारेठार' ऐसे द्विरुक्त संज्ञापद, लिंगदोष, नामधातु, क्रियापद और कुछ विचित्र विशिष्ट प्रयोग।

परंतु दक्खिनी में इस वैषम्य की अपेक्षा साम्य अधिक हैं। संज्ञा के एकवचन अविकारी और विकारी रूप खड़ी बोली से अभिन्न हैं। आकारांत शब्द तो हैं ही, इनके एकवचन विकारी रूप भी सभी रचनाओं में खड़ी बोली के समान एकारात हैं। कहीं कहीं संज्ञा के बहुवचन अविकारी और विकारी रूप भी खड़ी बोली के सदृश हैं—सजदे किए ठार, क्या समझेंगे दाने, किस्से घड़ेंगे इस ठार, (सबरस) दोनो कानों (मेराजुल आशिकीन), हातों दोनों (अहकामुस्सलात)। हम लिख चुके हैं। कि प्राचीन दक्खिनी रचनाओं में 'मेराजुल आशिकीन' की भाषा खड़ी बोली के अधिक निकट है। इस पुस्तक में 'उसे', 'उसका', 'मै', 'तुम्हारा', 'बो', दूसरा, 'दोनों', 'करता है', करते हैं', 'करेगा', 'लेकर, 'लेना, 'करे, 'सुनो', हुआ, इत्यादि खड़ी बोली शैली के प्रचुर रूप मिलते हैं। अनेक सर्वनाम रूप और सार्वनामिक विशेषण भी खड़ी बोली शैली के हैं। मेरठी बोली के 'यों' (यह), 'वो', (वह) जैसे सर्वनाम भी प्राप्त होते हैं।

वर्तमान कृदंत के पुल्लिंग एकवचन रूप, 'तो' प्रत्ययात, पुल्लिंग बहुवचन रूप, 'ते' प्रत्ययांत और स्त्रीलिंग एकवचन 'तो' प्रत्ययात हैं। भविष्य काल में 'सी' 'से' 'हूं' प्रत्ययवाले रूपो के अतिरिक्त 'गा', 'गी', 'गे' वाले पद भी पर्याप्त

ध्वनि संबंधिनी प्रवृत्तियों में उल्लेखनीय हैं—आद्य लघु को दीर्घ (यथा—पीछाना), दीर्घ को लघु (दुसरा, गुगे), महाप्राण को अल्पप्राण (हात, देक, मुजे, रकता), दो शब्दों के समास में पूर्व या अपर पद के किसी व्यंजन, स्वर या अक्षर का लोप (यथा कुछ, अलग), कुछ क्रियारूपों में 'ह' या अन्य मध्य व्यंजन का लोप (यथा—कते), 'ह' का पर-व्यंजन में लीन होना (यथा—रखनता) दो मूर्धन्य ध्वनियोंवाले शब्दों में प्रथम मूर्धन्य के स्थान पर दंत्य (यथा—तुटे, थंडी), अंतिम 'म' को 'वं' और 'ग' को 'क' (यथा—नावँ, लोक), कुछ शब्दों में अनुस्वारांतता (यथा—यीँ, वाँ, जधाँ, तधां); 'क' का 'ख' जैसा उच्चारण (यथा—'शौक' को 'शौख')।

व्यवहृत हैं। पूर्वकालिक कृदंत के 'को', 'इ', 'य' पदांतों के साथ खड़ी बोली का 'कर' पदांत भी है। सहायक क्रिया के उल्लिखित रूपों के अतिरिक्त खड़ी बोली शैली के 'हूँ', 'हे', 'है' 'हो' रूप भी बहुधा प्रयुक्त हैं। कुछ अव्यय भी इस शैली के हैं। खड़ी बोली प्रदेश की बोलचाल में व्यवहृत 'कौं', 'याँ', 'वाँ' 'जाँ', 'नई', 'अंगे', 'कने', 'सात', 'मौत' आदि अव्यय दक्खिनी गद्य में स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं।

कुछ गद्यांश द्रष्टव्य हैं—

'इनका माना तहकीक खुदा मिन्नत किया है मुसलमानां होर मुसलमानां की औरताँ को तुमारे तनाँ में मुहम्मद का नूर रखिया हूँ सो तुमीं बूझो होर जानो हरेक पराई पछांव करना वाजिब है ये बड़ी न्यामत है। × × × आरिफ के आँक सों जिबराईल कों देखना, कानां सो जिबराईल की बातां सुनना, नाक सों जिबराईल की बूई लेना, जबान सों जिबराईल की बातां बोलना, शहबत कां जिबराईल लक उसे अँपड़ना, पीर के वाहिदुल वजूद का मुशाहिदा करना तौहीद के दरिया मे ठैरना, जिक्र खफी के महल में वहदहूलाशरीका लक् की नींद लेना — इस जागा का हाल पैगंबर अलैहिस्सलाम कहे सो मालूम करना (मेराजुल आशिकीन) अल्लाह करे सो होवे कि कादिर तवाना सोच कि कदीमुल करीम उस करीम का भी करनिहार सहज सहज सो तेरा ठारो ठार सहज हुआ भी तोज (तुज) थे बार। जधाँ कुछ नहीं भी था नहीं दो चार शरीक कोई नहीं ऐसा हाल समझना खुदा थे खुदा को (कूँ) जिस पर करम खुदा का होवे ××× ऐ आरिफ जाहिर तन के फैल सूँ बुजरिया व बातिन कातब दिस्ते। उसका नौंव सूँ मुमकिनुल वजूद दूसरा तन सा भी कि इसका इंद्रियन का विकार वे चेष्टा करन हारा सो नहीं तन, नहीं यू खाक व सुख दुख भोगन हारा जेता विकार रूप वही दूसरा तन, त तूँ नजर कर देख ये तन फहम सूँ गुजरिया तो गुन उसका क्यूँ रहे।' (कलिमतुल हकायक)

'दुवा माँगने का तरीका यों है के हातों दोनों दराज करे। खांद्याँ के मुकाबिल होर दोनों हातों के दरमियानी खुल्ला अछे होर दुआ माँगे बाद अज मूं पर सूँ हातों उतारे यो सब सुन्नत है।" (अहकामुस्सलात)।

"न आफत देखे न जलजला अपे भले तो आलम भला, किसी कूं बुरा बोलना यो बिसवास है, भलाई बुराई सब अपने पास है। आपे चल नीं जानते, दुसर्यां पर बुरा मानते, अव्वल अपनी खबर में आपे रहना, पीछे दुसर्यां कूं बुरा कहना, जिनें अपसकूं पछान्या, उने सब जान्या, जिधर ढलना है, उधर अक्ल के उजाले में चलना है'—(सबरस)।

जनमेजय पारीक्षित और उसकी राजधानी

[देवेंद्र हाँडा]

जनमेजय पारीक्षित और उसकी राजधानी के विषय में विद्वानों में कुछ भ्रांतियाँ चली आ रही हैं। प्रस्तुत लेख में विभिन्न विद्वानों के विचारों का विश्लेषण करते हुए नवीन सामग्री के आधार पर जनमेजय पारीक्षित तथा उसकी राजधानी के विषय में विवेचना की जा रही है।

जनमेजय पारीक्षित का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऐतरेय ब्राह्मण[1] में मिलता है जहाँ उसकी चतुर्दिक् विजय और अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ में उसका पुरोहित तुरकावेषय था। यज्ञ का घोड़ा आसंदीवत् नामक स्थान पर बाँधा गया था, जैसा ऐतरेय ब्राह्मण मे उद्धृत निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होता है :

आसंदीवति धान्यदं रुक्मिणं हरितस्रजम्
अबध्नादश्वं सारंगं देवेभ्यो जनमेजय इति ॥

इसके पश्चात् शतपथ ब्राह्मण[2] और शांखायन श्रौत सूत्र[3] में भी जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है और दोनों में उक्त गाथा भी उद्धृत है। परंतु इन दोनों ग्रंथों में भी पुरोहित का नाम इंद्रोत दैवाप शौनक बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] में पारीक्षितों की विगत ख्याति का संकेत है। पाणिनि[5] आसंदीवत् नामक स्थानविशेष से सुपरिचित था, जहाँ अश्वमेध का घोड़ा बाँधा गया था।

१. ऐ० ब्रा० ७. २७ ८. २१.

२. श० ब्रा० ११. ५. ५, १३। १३. ५. ४. १–४.

३. शां० श्रौ० सू० १६. ८, १७–२८। १६. ६, १.

४. बृ० उप० ३. ३.

५. अष्टाध्यायी ४. २, ८६।८. २, १२.

आसंदीवत् जनमेजय पारीक्षित की राजधानी थी[६]। इसका समीकरण हस्तिनापुर से किया गया है[७] जिसके नागसाहृवय, नागासाहृवय, नागपुर, गजसाहृवय, गजाहृवय, गजपुर, वारणसाहृवय, वारणाहृवय आदि अनेक नाम थे[८]। इस समीकरण के आधारस्वरूप कोई तर्क उपस्थित नहीं किया गया है। निश्चय ही यह समीकरण ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित जनमेजय पारीक्षित तथा महाभारत युद्ध के पश्चात् राज्य करनेवाले अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय पारीक्षित के नामों के मिलने से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण किया गया है, क्योंकि अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय की राजधानी हस्तिनापुर थी। यह भ्रम महाभारत,[९] भागवत[१०] तथा वराह[११] पुराणों में भी दृष्टिगत होता है। आसंदीवत् और हस्तिनापुर का समीकरण इस भ्रांति पर आधारित होने के साथ साथ कुछ अन्य दोषों से भी युक्त है। इसका विवेचन हम निम्नलिखित पंक्तियों में करने का प्रयत्न करेंगे। परंतु ऐसा विवेचन जनमेजय पारीक्षितों की वंशावलियों तथा तत्संबंधी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के ज्ञान के बिना असंभव सा है, इसलिये पहले हम दोनों जनमेजयों की वंशावलियों को देखते हुए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हैं।

सृष्टि का आरंभ भारतवर्ष में मनु से माना गया है। पौरव वंश का प्रारंभ मनु के ही एक वंशज ययाति के पुत्र पुरु से माना जाता है[१२]। पुरु के पुत्र का

६. मेक्डानेल और कीथ कृत वेदिक इंडेक्स, जिल्द १, पृष्ठ ७२, वासुदेवशरण अग्रवाल कृत इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, १९५३, पृष्ठ ४४, ७१ तथा १४४.

७. ए० डी० पुसालकर, दि वैदिक एज, १९५२, पृष्ठ २९१; हेमचंद्र रायचौधरी कृत पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंश्येंट इंडिया, १९५३, पृष्ठ २३, भगवतशरण उपाध्याय कृत प्राचीन भारत का इतिहास, १९४७, पृष्ठ ४३; पावेलप्राइस, ए हिस्ट्री आफ इंडिया, १९२८, पृष्ठ १५; एच० एच० डाडवेल (सं०), दि कैंब्रिज शार्टर हिस्ट्री आव इंडिया, १९५८, पृष्ठ ८, इत्यादि.

८. एस० सोरेनसन कृत इंडेक्स टु नेम्स इन दि महाभारत, १९१३, पृष्ठ ३२०.

९. महा० १. ३.

१० भा० पु० ९ २२, ३५.

११. व० पु० १९३, १–५.

१२. महा० (क्रिटिकल एडीशन) १. ७०, ४५; १, ८९; वा० पु० ९१, २१७–१८, २२९–३४; ब्रह्मा० पु० १३, १०८–२३; हरि० पु० ३२, १८०१–२,

नाम जनमेजय था जिसे पार्जिटर ने जनमेजय प्रथम कहा है[13]। इसी पुरु के एक वंशज सुहोत्र के पुत्र हस्तिन् हुए जिन्होंने हस्तिनापुर की नींव डाली[14]। हस्तिन् के एक पुत्र का नाम अजमीढ था जो हस्तिनापुर से राज्य करने लगा। अजमीढ के ही वंश में राजा संवरण हुआ जिसे किसी पांचाल राजा से युद्ध में हारकर हस्तिनापुर छोड़कर भागना पड़ा[15]।

संवरण कई वर्षों तक सिंधु नदी के तट पर भटकता रहा। उसने विवस्वंत ऋषि की पुत्री तपती से विवाह किया और वसिष्ठ नामक ऋषि की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। तपती से उसका पुत्र कुरु हुआ। संवरण की शत्रुता पाचालों से बनी रही होगी और उसके पश्चात् भी चलती रही होगी, इसीलिये कुरु ने सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य भाग को आबाद किया जो उसी के नाम पर कुरुक्षेत्र कहलाया[16] और उसकी तथा उसके वंशजों की कर्मभूमि बना।[16अ] कुरु का पुत्र जनमेजय था।[17] पार्जिटर ने इसे जनमेजय द्वितीय कहा है[18]। ब्राह्मण ग्रंथों तथा शांखायन श्रौत सूत्र में इसी जनमेजय पारीक्षित के अश्वमेध का निर्देश है क्योंकि उनमें तुरकावषेय तथा इंद्रोत दैवाप शौनक नामक जिन पुरोहितों का नाम अश्वमेध के संबंध में आता है वे इसी जनमेजय पारीक्षित के समकालिक थे[19]। रायचौधरी ने इस जनमेजय को छायात्मक व्यक्तित्व माना है[20] परंतु पुसालकर ने सिद्ध किया है कि वह

१८११-१८; मत्स्य पु० ५०. २३- १४-५६; वि० पु० ४. १६;१६। २, २०, अग्नि पु० २७७ २७, ३१-४०; ग० पु० १. १४०. १५, ३०-४०; भा० पु० ६. २२ ४, ९-३३, पार्जिटर कृत एंश्येंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन, १९६२, पृष्ठ ८४ और आगे तथा पृष्ठ १४४.

१३. पार्जिटर, पृष्ठ १४७.

१४. महा० (क्रि० ऐ०) १. ९०. ३६.

१५. वही० १. ८६, ३०-३४.

१६. महा० (सातवलेकर एडीशन) ६. ५३, २; महा० (क्रि० ऐ०) १, ८९, ४२-४३.

१६अ. देवराज पाठिक, कल्चरल हिस्ट्री आफ दि वायु पुराण, पृष्ठ १९.

१७. सीतानाथ प्रधान कृत क्रोनोलाजी आफ एंश्येंट इंडिया, कलकत्ता, १९२७, पृ० ९०.

१८. पार्जिटर, पृष्ठ ११४ और १४८.

१९. पुसालकर, पृष्ठ ३०१.

२०. रायचौधरी, पृष्ठ १९.

वास्तविक व्यक्ति था[२१]। इस जनमेजय पारीक्षित की राजधानी कुरुवंश की कर्मभूमि कुरुक्षेत्र में थी[२२] और, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उसका नाम आसंदीवत् था।

यहाँ जनमेजय पारीक्षित के अश्वमेध के विषय में विचार कर लेना अनुचित न होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जनमेजय पारीक्षित ने दो अश्वमेध यज्ञ किए — प्रथम यज्ञ चक्रवर्तित्व की प्राप्ति पर तुरकावषेय के पौरोहित्य में, जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में है, और दूसरा यज्ञ गार्ग्य ऋषि के पुत्र को मारने पर ब्रह्महत्या के पाप से बचने के लिये इंद्रोत दैवाप शौनक के पौरोहित्य में, — जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा शांखायन श्रौत सूत्र में है। यज्ञ करने पर भी जनमेजय गार्ग्य ऋषि के शाप के प्रभाव से न बच सका और उसे अपना सारा साम्राज्य खोना पड़ा, जिसे वह या उसके पुत्र फिर कभी प्राप्त नहीं कर पाए[२३]। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा ही संकेत है। इसी कारण महाभारत तथा पुराणों में इस जनमेजय पारीक्षित के श्रुतसेन उग्रसेन तथा भीमसेन नामक तीन पुत्रों[२४] में से राजा के रूप में किसी का भी वर्णन नहीं हुआ और न इस वंशावली को आगे ही बढ़ाया गया है। इसके पश्चात् महाभारत तथा पुराणों की वंशावलियाँ कुरु के एकेतर वंशज जह्नु को लेकर आगे बढ़ती है क्योंकि अब साम्राज्य जह्नु के वंशजों के हाथ में आ गया था, जो फिर से हस्तिनापुर से राज्य करने लगे। आगे चलकर इसी वंश में पांडव तथा अभिमन्यु हुए जिन्होंने महाभारतयुद्ध में भाग लिया। युद्ध के उपरांत हस्तिनापुर की राजगद्दी पर अभिमन्यु के पुत्र के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया गया। परीक्षित की मृत्यु एक ऋषि के शाप से नागों के राजा तक्षक के दंश से हुई। उसके पुत्र जनमेजय ने अपने पिता की मृत्यु के बदले के रूप में एक सर्पसत्र किया जिसमें असंख्य नाग मारे गए[२५]।

२१. पुसालकर, पृष्ठ ३०३।

२२. वही०, पृष्ठ २५३।

२३. वही, पृष्ठ ३१०; पार्जिटर, पृष्ठ ११४।

२४. विष्णु तथा गरुड़ पुराण में इन्हें जनमेजय का भाई माना गया है। भा० पु० के अनुसार जनमेजय की कोई संतान न थी।

२५. महा० (क्रि० ऐ०) १.४०–५६। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार यह सर्पसत्र जनमेजय द्वारा नाग जाति पर किए गए ऐतिहासिक आक्रमण का पौराणिकीकृत विवरण है। आगे टिप्पणी ३७ भी देखिए।

इस जनमेजय पारीक्षित ने, जो पार्जिटर के अनुसार जनमेजय तृतीय है[२६], एक अश्वमेध यज्ञ का भी उपक्रम किया था, परंतु वह उसे संपूर्ण नहीं कर पाया[२७]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमें दो जनमेजय पारीक्षितों का वर्णन मिलता है जिनके नामसाम्य के कारण विद्वानों में कुछ भ्रांतियाँ प्रचलित हो गई हैं। रायचौधरी ने जनमेजय तृतीय के सर्पसत्र को कोई ऐतिहासिक महत्व न देते हुए उसकी तक्षशिला विजय को ऐतिहासिक घटना समझा है और इसका आधार माना है ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मण ग्रंथों में आए जनमेजय द्वितीय के अश्वमेध संबंधी संदर्भों को[२८]। यह एक अनुपेक्ष्य व्यतिक्रम है। इसी प्रकार दि कैंब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ् इंडिया[२९] में तो सर्पसत्र का कर्ता भी जनमेजय द्वितीय को ही बना दिया गया है। इन जनमेजय पारीक्षितों को अभिन्न समझ लेने के भ्रम से ही जनमेजय द्वितीय की राजधानी आसंदीवत को जनमेजय तृतीय की राजधानी हस्तिनापुर से समीकृत कर दिया गया है। यह समीकरण सदोष है और इसका विवेचन हम निम्नलिखित पंक्तियों में करते हैं।

हम ऊपर देख चुके हैं कि हस्तिनापुर की स्थापना जनमेजय द्वितीय के पूर्वज राजा हस्तिन् ने उससे पर्याप्त समय पूर्व की थी। अतः स्पष्ट है कि हस्तिनापुर, जो उससे कुछ समय पूर्व तक राजधानी था और उसके कुछ समय पश्चात् फिर राजधानी बना लिया गया था, उसके समय में भी वैभवशाली एवं महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा। ऐसे वैभवशाली और महत्वपूर्ण स्थान को उसके लोकप्रिय और लोकप्रचलित नाम हस्तिनापुर के स्थान पर आसंदीवत् नाम से जानना असंभव सा लगता है। यदि दोनों एक ही स्थान के नाम थे तो निश्चय ही अधिक लोकप्रिय नाम का प्रयोग अधिक संगत प्रतीत होता है। महाभारत तथा पुराणों में हमें हस्तिनापुर के नागसाह्वय, गजाह्वय, वारणसाह्वय इत्यादि अनेक नाम मिलते हैं, परंतु कहीं भी इसका नाम आसंदीवत् नहीं कहा गया है। यदि हस्तिनापुर और आसंदीवत् एक ही नगर के नाम होते तो निश्चय ही हमें हस्तिनापुर के अनेक नामों में आसंदीवत् का नाम भी कहीं न कहीं, अवश्य मिलता। दूसरे, जैसा पहले कहा जा चुका है, आसंदीवत् कुरु की कर्मभूमि कुरुक्षेत्र में था, परंतु हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र से पर्याप्त दूर, गंगा के तट पर स्थित है अतः दोनों का समीकरण ठीक नहीं।

२६. पार्जिटर।
२७. हरि० पु० ३. २। ५–६, २८ २९। ३. ५, ११–१७.
२८. पुसालकर, पृष्ठ ३२९, पादटिप्पणी ३.
२९. पृष्ठ ९.

इस समीकरण के विरुद्ध एक तर्क यह भी है कि आसंदी नामक एक ग्राम का उल्लेख महाभारत[१०] में पाया जाता है जो युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन से माँगे गए पांच गाँवों में से एक था। यह तो सुविदित ही है कि दुर्योधन हस्तिनापुर से राज्य कर रहा था। युधिष्ठिर द्वारा पाँच गाँवों में दुर्योधन की राजधानी को ही माँग लेना कितनी असंगत बात प्रतीत होती है। स्पष्टतः हस्तिनापुर राजधानी थी और आसंदी एक छोटा सा गाँव। हम ऊपर देख आए हैं कि जनमेजय द्वितीय गार्ग्य ऋषि के शाप से अपना साम्राज्य खो चुका था जिसे वह या उसके पुत्र पुनः प्राप्त न कर पाए। उसके पश्चात् हस्तिनापुर को ही राजधानी बना लिया गया था। अतः उसकी राजधानी आसंदीवत् का महत्व कम हो जाना तथा कुछ पीढ़ियों के पश्चात् उसका केवल एक छोटा सा गाँव रह जाना नितांत संभव है। यही छोटा सा गाँव युधिष्ठिर द्वारा माँगा गया था, न कि हस्तिनापुर।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में हस्तिनापुर[११] तथा आसंदीवत्[१२] दोनों का भिन्न भिन्न निर्देश किया है और दोनों के निर्देशों में कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि दोनों एक ही नगर के नाम थे। काशिका में आसंदीवत् का समीकरण अहिस्थल से किया गया है[१३]। हम जानते हैं कि जनमेजय तृतीय ने सर्पसत्र किया था[१४]। उसी सर्पसत्र के स्थान का नाम अहिस्थल पड़ा होगा और यह स्थान उसकी राजधानी हस्तिनापुर से अधिक दूर न होगा। यह असंभव नहीं है कि आधुनिक ऐथल[१५], जो उत्तर रेलवे के लक्सर-हरिद्वार-खंड पर एक स्टेशन है प्राचीन अहिस्थल हो।

१०. महा० (क्रि० ऐ०) ५. ३१. १४.

११. अष्टा० ४ १, १०१।

१२. वही० ४. २, ८६। ८. २, १२.

१३. काशिका ८. २, १२.

१४. हमारे विचार से यह सर्पसत्र केवल ऐतिहासिक घटना का पौराणिकीकृत विवरण नहीं है। पंचविंश ब्राह्मण (२५. १५, १) में जिस प्रकार सर्पों की रक्षा तथा उनके कुशल क्षेम के लिये सर्पसत्र का वर्णन है उसी प्रकार जनमेजय तृतीय का यह सर्पसत्र सर्पों के प्रतिकूल था। "परीक्षित की सर्प द्वारा दंशित होने से मृत्यु कोई अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक घटना नहीं है। इस सत्र का उद्देश्य सर्पों की विषैली शक्ति को नष्ट करना रहा होगा।

१५. कपित्थल से कैथल (देखिए, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ७१) की व्युत्पत्ति के समान अहिस्थल से ऐथल की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आसंदीवत् का हस्तिनापुर से किया गया समीकरण युक्तिसंगत नहीं है। अब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि आसंदीवत् हस्तिनापुर नहीं था तो और कौन सा स्थान था? आज से पर्याप्त समय पूर्व एक युक्तिहीन संभावना के रूप में आधुनिक आसंद को प्राचीन आसंदीवत् के रूप में प्रस्तुत किया गया था।[१६] आसंद करनाल से ३२ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में चिताग नदी (प्राचीन दृषद्वती)[१७] के तट पर स्थित है। यह स्थान कुरुक्षेत्र के निकट है, जैसा प्राचीन आसंदीवत् था। इसके अतिरिक्त हम इस सायुज्य के पक्ष में दो अन्य तर्क भी प्रस्तुत करते हैं—एक भाषावैज्ञानिक और दूसरा पुरातात्विक। 'आसंदीवत्' नाम, जैसा महाभारत से ज्ञात होता है, बाद में केवल 'आसंदी' रह गया था। शताब्दियों के पश्चात् इस नाम का आसंदी से केवल आसंद रह जाना अत्यंत संभव एवं स्वाभाविक है। आसंदीवत् आसंदी आसंद भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतया न्याय्य है। पुरातात्विक दृष्टि से आसंद के अत्यंत प्राचीन होने में कोई संदेह नहीं है। महाभारत में निर्दिष्ट अनेक स्थानों की पुरातात्विक गवेषणा तथा उत्खनन से उन स्थानों से जो विशेष प्रकार के सुरमई रंग के ठीकरे पाए गए हैं, उन्हें आर्य लोगों के साथ संबद्ध किया गया है[१७]। आसंद का वर्णन भी हमें उत्तरवैदिककाल के साहित्य, महाभारत इत्यादि में मिलता है और वे सुरमई रंग के विशेष प्रकार के ठीकरे भी हमें यहाँ से उपलब्ध हुए हैं[१८]। अतः प्राचीन आसंदीवत् का आधुनिक आसंद से यह सायुज्य भाषावैज्ञानिक दृष्टि के साथ पुरातात्विक दृष्टि से भी पूर्णतया न्यायसंगत ठहरता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण ग्रंथों तथा शांखायन श्रौत सूत्र में जिस जनमेजय पारीक्षित का उल्लेख है वह पाडवों से बहुत समय पूर्व हुआ था और उसने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसकी राजधानी आसंदीवत् थी जिसका समीकरण आधुनिक आसंद से बिल्कुल युक्तिसंगत है। वह पाडवों के वंशज तथा महाभारत युद्ध के पश्चात् राज्य

होती हैं और हस्तिनापुर से इसकी समीपता इस समीकरण की पुष्टि सी करती है। महा० (निर्णयसागर प्रेस) ५. ३१, १९ में आसंदी के स्थान पर 'अविस्थल' संभवतया अहिस्थल का ही अशुद्ध पाठ है।

१६. रायचौधरी, पृष्ठ ३३.

१७. ब्रजवासीलाल, एंश्येंट इंडिया १०–११ (१९५४–५५) पृष्ठ १.८ और आगे।

१८. इंडियन आर्कियोलाजी—ए रिव्यू, १९६०–६१, पृष्ठ ६१.

करनेवाले जनमेजय पारीक्षित से, जिसने एक सर्पसत्र का अनुष्ठान किया था और एक अश्वमेध यज्ञ का उपक्रम जिसे वह संपूर्ण नहीं कर पाया था और जिसकी राजधानी गंगा के तट पर हस्तिनापुर थी, नितात भिन्न व्यक्ति था। अतः उसके संबंध में जो भ्रांतियाँ हैं वे निर्मूल हैं और उनका कारण केवल दोनों के नाम की समानता है।

*

नियति और पुरुषार्थ के प्रकरण में 'दिनकर'

विकासचंद्र सिन्हा

यद्यपि जीवन और परमपुरुष के प्रकरण मे दैव और पुरुषार्थ की गाथा प्रागैतिहासिक काल के भी अनादि अतीत से ही चली आ रही है, तथापि जिस प्रकार 'ब्रह्मविद्या के आदिस्रोत उपनिषद् ही हैं'[1] उसी प्रकार दैव का भी मूलोद्‌गम उपनिषदों से ही उपलब्ध हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञानाकांक्षी जिज्ञासुओं की मनस्विता ने ब्रह्मविद्या का आविष्कार किया, उसी प्रकार जनसाधारण की विस्मयविवशता ने, स्रष्टा के प्रकरण में, दैव, नियति वा भाग्य का भी आरोप कर लिया होगा। साधारण जीवन में, किंवा जनसाधारण के जीवन में, यह ब्रह्मविद्या के आगमन के भी पूर्व से चला आता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। विशेषकर, इस दृष्टि से कि भ्राति एवं अज्ञान से ही ज्ञानोदय हुआ, दैवी धारणा की यह स्थिति उपनिषदीय विद्वानों को भी अमान्य नहीं होगी। वस्तुतः इसकी परंपरा की दीर्घता और दृढ़ता ही, प्रकारांतर से, उनके भाष्यों की एकाधिक शंकाओं में प्रतिच्छायित हुई है।[2] किंतु वेदोपनिषद् में पुरुषार्थ का ही स्वर प्रमुख एवं प्रधान है। विघ्नकारकों के रूप में अविद्या आदि अन्य कारणों के साथ देवता की भी सत्ता इंगित हुई है।

किंतु परम पुरुषार्थ की गति सर्वत्र अप्रतिहत मानी गई। यद्यपि यह कहा गया कि—'यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्येतऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिका-

---

१. ईशावास्योपनिषद्, प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रस्तावना।

२. ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धाः अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा दैवादिना च विघ्नतो ब्रह्मविद्‌प्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव।

—मुंडकोपनिषद्, प्रकाशक वही, मुंडक १ खंड २, पृ० ११५।

त्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवतं,' तथापि यह भी कहा गया है कि ब्रह्मार्थी पुरुषार्थी के विरुद्ध दैव भी विघ्नसृजन नहीं करते। यह उनके अनुकूल पड़ता है।[२] अन्य प्रकार के पुरुषार्थमार्ग में, अर्थात् 'बाह्य क्रियात्मक' पुरुषार्थमार्ग में ही स्यात् अवरोध उपस्थित करते हैं। ऐसा इसलिये भी कि बाह्य क्रियात्मकता एवं परम-पुरुषार्थ के उद्देश्य आत्मक्रीड़ता मे परस्पर विरोध है।[३]

संभवतः यहीं से ब्रह्म से संबंधित तथापि, उससे पृथक् भी, दैव के अनुकूल प्रतिकूल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की कल्पना अग्रसर हो कालक्रम से, विवेकशीलो में भी, मान्यता मे परिवर्तित हो गई। और यह बाह्य क्रियात्मक पुरुषार्थ ही कालांतर में, साधारण अर्थ में पुरुषार्थ के अभिधान में प्रचलित होकर रूढ़ हो गया।

'ब्रह्म का रहस्य उसी को ज्ञात होता है जिसपर उसकी कृपा होती है।' इस आशय के कथनो के कारण पीछे प्रश्न एवं शंकाएँ बढ़ती ही गईं। प्रश्न हुआ, किसपर उसकी कृपा होती है। यदि उत्तर हो, पुरुषार्थी पर, तो सब पुरुषार्थी क्यों नहीं हैं? अगर उत्तर हो अविद्या अपकर्मादि के कारण, तो वह जो सर्वप्रेरक है और अविद्या आदि से अधिक समर्थ है—अविद्यात्मक अथवा अविद्याजन्य स्थिति का आरंभ मे ही अंत क्यों नहीं कर देता, एवं सर्वत्र समान रूप से सुकर्मात्मक एवं सुखात्मक प्रेरणा ही क्यो नहीं उत्पन्न और परिपुष्ट करता? सभी आत्मरति एवं आत्मक्रीड़ क्यों नहीं होते? ऐसी शंकाओं एवं ऐसे प्रश्नो को उपनिषदीय भाष्यों के साथ भी संपृक्त पाकर हम इनकी स्वाभाविकता के संबंध में और भी निःसंशय एवं निर्विरोध हो जाते हैं।

यद्यपि ये प्रश्न उपनिषदों की परिधि को अतिक्रमित वा आक्रांत नहीं करते, तथापि पत्रोपलब्ध उत्तर के मर्म को पाने की चेष्टा एवं धारण करने के धैर्य में मानव मन शनैः शनैः दुर्बल, हतोत्साह और विषण्ण होता गया। कालांतर में वह कभी कभी प्रतिक्रियात्मक भी हो उठा। गौतम बुद्ध की प्रतिक्रिया बहुत कुछ ऐसी ही थी।

१. शांकर भाष्य सहित कठोपनिषद्, प्रका० वही, द्वितीया वल्ली, पृ० ४०।

२. देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्ति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्।
आत्मा ह्येषां स भवति।—मुंडकोपनिषद् मुंडक ३, भाष्यक्रम, श्लोक ८·९, प्रकाशक वही, पृ० ११५-११६।

३. ······बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। वही, तृतीय मुंडक, प्रथम खंड, श्लोक ४, भाष्यक्रम।

निष्कर्ष यह कि आध्यात्मिक व्याख्या में अपूर्णता किंवा दुरूहताबोध अथवा उसके द्वारा अभीप्सित संतुष्टि के अभाव ने, विशेषकर उपर्युक्त पृष्ठभूमि में, लोकानुभूति की सर्वमान्यता में, मानव मन और जिज्ञासा को दैव-नियत-काल आदि की बलशालिता की अवतारणा के लिये प्रेरित कर दिया। उपनिषदीय भाष्यों में दैवरूप में इंगित एवं प्रकारांतर से मान्य न्यूनाधिक भिन्न भासमान सत्ता ने कालक्रम से नियम्य नियामक की मध्यवर्ती स्थिति के कर्षण विश्लेषण के कारण नियति के आगमन अभिनंदन के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। दैवसंज्ञक विघ्नकरी, विरोधिनी शक्ति धीरे धीरे नियामक के प्रायः समतुल्य होती गई और इसका विनाशक, विघटनकारी विकराल रूप उत्तरोत्तर भीमाकार होता गया। जैसे छांदोग्योपनिषद् का भूमा कालक्रम से श्रीमद्भागवत् में भृकुटिसंयुक्त हो जाता है[1] और जैसे बृहदारण्यक की अलभोज्या अग्निरूपा मृत्यु श्रीमद्भागवत् मे देदीप्यमान, तेजोमय कालदेवरूप में एवं अध्यात्मरामायण में ब्रह्मपुत्र महाकाल सर्वहर[2] रूप में प्रकट होती सी दिखाई देती है, वैसे ही श्रीमद्भागवत् और अध्यात्मरामायण में यह (दैव) भी क्रमशः और प्रारब्ध[3] रूप में प्रकट होता पाया जाता है। श्रीमद्भागवत् मे यह परमात्मा के पुरुषरूप को पृथक् दैवरूप में बहुवार कथित हुआ। यथा :

> एतद्भगवतोरूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
> परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्म विचेष्टितम्॥ ३॥
>
> — स्कंध ३, अध्याय २६।

(यह परब्रह्म परमात्मा भगवान् का रूप प्रधान पुरुष रूप है, उससे पृथक् रूप को दैव कहते हैं। — अनुवाद, गीता प्रेस)।

दैवहूति-कपिल-संवाद में, स्कंध ३, अध्याय २८ में दैव की व्यापकता इस प्रकार ध्वनित हुई :

१. अन्ये पुनर्भगवतो भुव उद्विजृंभविभ्रंशितार्थ रचनाः किमुरुक्रमस्य। —श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कंध, २१वाँ अध्याय, श्लोक ८ का अंश।

२. मायासङ्गो वीरकालः सर्वहरः स्मृतः — अध्यात्मरामायण, उत्तरकांड, सर्ग ८, श्लोक १३ —पूर्वार्ध।

३. बुद्धयादिभ्यो बहिः सर्वमनुवर्तस्व मा खिदः।
भुंजन्प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःख मेव वा॥ ७१॥
— अध्यात्मरामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ४।

देहोपि दैववशगः खलुकर्म जावत्स्तारंभकं
— प्रति समीक्षत एव सासु :

— श्लोक ३८ का अंश।

निष्कर्ष यह कि दैव वा नियति की स्वीकृति, नियति के प्रति प्रवृत्ति अथवा इसके प्रति आस्था चाहे जिज्ञासा, विवशता, असमर्थता, लोभ, भय, प्रतिक्रिया अथवा असंतोष का ही साक्षात् असाक्षात् परिणाम क्यों न हो, किंतु यह विश्वसाहित्य में न्यूनाधिक सर्वत्र पाई जाती है। मृत्यु, व्याधि अथवा वस्तुस्थिति की व्याख्या में बौद्धिक असमर्थता अथवा असंतोष ने इसके लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल अवतरणभूमि प्रस्तुत की होगी। नियत्यार्थक दैव के व्यापक स्वरूप की व्याख्या और उसकी अप्रतिहत सत्ता का कथन लोकार्थ रचनाओं में प्रथमतः आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में सविस्तार एवं स्पष्टतः उल्लखित हुआ। वाल्मीकि के राम लक्ष्मण से कहते हैं :

यदचिंत्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥ २०॥[1]

(जो समझ के बाहर हो उसका नाम दैव अथवा भाग्य है। भाग्य की रेखा को ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते। इसी दुर्निवार्य दैव ने मुझमें और कैकेयी में इतना भेदभाव उत्पन्न कर दिया है।)

यह नियति कभी अनुकूल होती है और कभी प्रतिकूल। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता विधान की इन दोनों दुर्निवार्य क्षमताओं से युक्त इसकी सत्ता बारंबार उद्घोषित होती रही है। तथापि, प्रतिकूलता विधान में इसे स्वभावतः अधिक स्मरण किया गया है। राम इसकी अपरिहार्य शक्ति के संबंध में कहते हैं :

कश्चिद्दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य न ग्रहणं किंचित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते॥ २१॥[2]

(हे लक्ष्मण! कर्मफल भोगने के सिवाय जिसके जानने का अन्य कोई साधन नहीं है, उस दैव अथवा भाग्य से लड़ने का कौन पुरुष साहस कर सकता है?)

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यच्च किंचित्तथा भूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २२॥[3]

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, । सर्ग २२, अनुवादक, चतुर्वेदी द्वारका— प्रसाद शर्मा, प्रकाशक रामनारायण लाल।

२. वही।

३. वही।

(देखो, सुख दुःख, भय क्रोध, हानि लाभ और जीवन मरण तथा अन्य बातें जो इन्हीं के समान हैं वे सब दैव के ही कृत्य हैं।)

उपर्युक्त तथ्य की स्वीकृति रामचरितमानस में इस प्रकार है :—हानि-लाभ-जीवन मरण, जस-अपजस विधि हाथ।

दैव के कर्म को समझाते हुए राम कहते हैं :—असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते, निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २८॥

दैव के कर्म को समझाते हुए राम कहते हैं—असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते निवर्त्यरिम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत (जिसे करने के लिये कभी विचार भी न किया हो और वह अचानक हो जाए और जिस काम को विचार कर करो वह न हो, बस इसी को कर्म समझना चाहिए।)

भाग्य की परिधि की व्यापकता एवं उसकी अपकारिणी क्रिया के विवरण एवं अनुभूति के प्रकरण में ये पुनः कहते हैं—

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्भ्रंश्यन्ते काममन्युभिः॥२३॥[1]

(बड़े बड़े कठोर तप करनेवाले तपस्वी लोग भी भाग्य के द्वारा सताए जाने पर, अपने उग्र नियमों का परित्याग कर काम और क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं।)

पुनश्च :

न लक्ष्मणास्मिन्खलु कर्म विघ्ने
माता यवीयस्यति शंकनीया।
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं
जनासि दैवं च तथा प्रभावं॥३०॥[2]

(हे लक्ष्मण! राज्य मिलने में विघ्न पड़ने का कारण मेरी छोटी माता कैकेयी है, ऐसी शंका तुम अपने मन में कभी न करना, क्योंकि दैव के वशवर्ती होकर लोग अनिष्ट बातें कह डाला करते हैं। दैव का प्रभाव तो तुमको मालूम ही है।)

जिस प्रकार पुरुषार्थ काव्य के प्रणेता आदिकवि वाल्मीकि नियति के प्रति आस्थावान् हैं उसी प्रकार देशी विदेशी अन्य अनेक पुरुषार्थ काव्यकार भी।

१. वही, रामनारायण लाल।
२. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग २२।
३. वही, पृ० २६७।
४ 'मानव पुरुषार्थ के सर्वोत्तम स्वरूप को लेकर, इन दोनों काव्यों की रचना हुई।'— काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० ४७।

विशेषकर, मृत्यु के प्रसंग में ये अपेक्षाकृत अधिक निर्वाक्, निरुपाय अतः आस्थावान् पाए जाते हैं। अंग्रेजी साहित्य के प्रथम महाकाव्य 'बियोवुल्फ' में क्रमशः साइल्ड एवं बियोवुल्फ के निधन पर नियति के आदेश की अनिवार्यता, इसकी निर्णायिका, नियामिका नियति का अथवा प्रेरणाशक्ति इस प्रकार व्यंजित हुई है :

'देन साइल्ड डिपार्टेड, ऐट वर्ड आव वायर्ड स्पोकेन
द हिरो टु गो टु द होम आव गाड्स
नो लेस् गिफ्ट दे गेव दैन द अननोन प्रोविडेंस
ह्वेन एलोन, ऐज ए चाइल्ड ही केम इन फ्राम द मियर ॥३॥
'''ऐंड वायर्ड वाज ड्राइंग नाइ
हू नाउ मस्ट मीट ऐंड टच दि एजेड मैन
'''ऐट होम आइ वेटेड
फौर द टाइम दैट वायर्ड कंट्रोल्म[४] ॥

नियतिवादी साथ साथ ईश्वरवादी हुआ करते हैं। वे न केवल मरण की वरन् मरण एवं आगमन की मध्यवर्ती आधि व्याधि, मृत्यादि की भी चर्चा किया करते हैं। बियोवुल्फ के प्रणेता भी ईश्वर के घर और अज्ञात के नियम एवं दान का संकेत करते तथा जीवनसीमा का उल्लेख करते हैं। यह सांसारिक आच्छादन वस्तुतः यात्री के सामयिक आवास, मार्गगत पड़ाव मात्र के समान है। प्रसंगवश इस क्रम में हम निम्नलिखित पंक्तियाँ स्मरण कर सकते हैं :

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्क्वचिद्वसेत्
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥५॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु।
आवास मात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥६॥

—अयोध्याकांड, अध्याय १०८।

नियति का अभिज्ञाता आस्तिक चौसर भी जगज्जीवन एवं जगदावास से भिन्न, लोकोत्तर एक अन्य जीवन एवं आवास की ओर आमंत्रित करता हुआ 'ट्रुथ आर गुड काउंसेल' में, उद्बोधनार्थ कहता है :

दैट दी इज सेंट, रिसेइव इन बक्सिमनीज
द रेस्लिंग फौर दिस वर्ल्ड ऐक्सेथ ए फाल
हर निस ननहूम, हरनिस बट वाइल्डरनेस
फोर्थ पिलग्रिम, फोर्थ! फोर्थ बस्टि, आउट आव दे स्टाल,
नो दाइ कंट्री, लुक अप, थैंक गौड आव आल,
होल्ड द हाइवे ऐंड लेट द गास्ट दी लीड
ऐंड ट्रुथ शैल डेलिवर, हिट इज नो ड्रीड।

चौसर का परवर्ती एवं मिल्टन का पूर्ववर्ती, शेक्सपियर भी नियति के प्रति कम जागरूक नहीं है। यद्यपि वह भी सद्गुण की विजय में, चौसर और 'मास्क आव कोमस' के प्रणेता मिल्टन की ही तरह विश्वासी है एवं उसी की भाँति किसी अन्य सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण करने को कदापि उद्यत नहीं है, तथापि उसकी रचनाओं में भी नियति के आक्रोश, आशंकाएँ एवं अनुकंपाएँ[1] प्रकार प्रकार के पात्रों के संपर्क में स्थल स्थल पर मूर्तिमान हो उठी हैं :

१. टु बी, आर नाट टु बी, दैट इज द क्वेश्चन,
ह्वेदर 'टिज नोब्लर इन द माइंड टु सफर
द स्लिंग्स एंड ऐरोज आव आउट रेजियस फारच्यून
आर टु टेक आर्म्स अगेंस्ट ए सी आव ट्रबुल्स
एंड बाइ अपोजिंग एंड देम ?

—हैमलेट्, अंक ३, दृश्य १।

२. एंड फारच्यून आन हिज डैम्ड क्वैरेल स्माइलिंग
शोड लाइक ए रिबेल्स ह्वोर, बट आल्ज टू वीक
···'लाइक वैलर्स 'मिनियन'

मैकबेथ, अंक १, दृश्य २।

३. 'फारच्यून, गुड नाइट, स्माइल वंस मोर, टर्न दाइ ह्वील'

—किंग लियर, अंक २, दृश्य २।

वा

'फारच्यून, दैट ऐरैंट ह्वोर,
नेवर टर्न्स द की टु द पुअर।'

४. फेट, शो दाइ फोर्स; अवरसेल्व्स वी डू नाट ओ;
५. ह्वाट इज डिक्रीड मस्ट बी, एंड बी दिस सो[2]

—ट्वेल्फ्थ नाइट, अंक १, दृश्य ५।

१. शेक्सपियर के प्रसादांत नाटकों में इनका अनुकंपात्मक स्वरूप प्रायः इंगित हुआ है। एवं इससे स्थल स्थल पर अनुकूलता प्रसारण की योजना की गई है यथा—

२. फारच्यून फारबिड, माइ आउटसाइड हैव नाट चार्म्ड' हर'

—वही, अंक २, दृश्य २।

उपर्युक्त की पृष्ठभूमि में प्रासंगिक विषय का अधिक विस्तार न कर निष्कर्ष में इतना ही कह देना अलम् होगा कि विश्व के महान् कवियों, साहित्यकारों, आदि की रचनाराशि में नियति का एक स्पष्ट स्तूप है। इस स्तूप पर हम वाल्मीकि, व्यास, बियेवुल्फ के प्रणेता, कालिदास[1], चौसर, शेक्सपियर, मिल्टन एवं सूर और तुलसी से लेकर आधुनिक हिंदी तक के महान् मर्मशिल्पियों को उत्कीर्ण पा सकते हैं। अर्थात् नियति का प्रश्न कालक्रम से एक शाश्वत प्रश्न सा बना दिखाई देता है। जिस किसी महत् रचना में जीवन का व्यापक क्षेत्र विस्तृत अनावृत हुआ वहाँ इसे भी एक अंचल अवश्य उपलब्ध हो गया है। किंतु सर्वत्र इसे श्रद्धा आस्था ही मिली हो, और वह भी स्पष्टतः, ऐसी बात नहीं है।

अतीत की तुलना में, विशेषतः आज के भौतिकवादी घोर अश्रद्धा के युग में, नियति के प्रति अनास्थापूर्ण विद्रोही भाव व्यक्त करनेवाले एकाधिक विचारक उपलब्ध हो रहे हैं। द्वंद्वात्मकताप्रधान मार्क्सवाद, यत्किंचित फ्रायड-वाद आदि से प्रभावित विचारकवर्ग कार्य कारण-संबंध-संस्थापन में असमर्थ हो नियति की ओर नहीं मुड़ते, विज्ञान और अनुसंधान की ओर मुड़ते हैं। वे संघटनकारिणी परिस्थिति को समझने की चेष्टा करते हैं। उसे समझकर अनुकूल रूप में सँभाल लेने की मानव शक्ति में आस्था प्रकट करते हैं। अनेक अघटित घटनाओं को घटा देखकर वे न तो निर्वाक् होते हैं, न हतप्रभ, न किंकर्तव्यविमूढ, वरन् उत्साहसप्राण होकर कारणान्वेषण के लिये कृतसंकल्प होते हैं। वे यह मानते हैं कि जीवनजगत् के विविध क्षेत्रों में अनुवीक्ष्य अनेक सूक्ष्मताओं के मर्म तक मानव अभी प्रवेश नहीं पा सका है। हठात् वा तत्क्षण प्रवेश पा भी नहीं सकता। किंतु कालक्रम से मानव की सक्रिय बुद्धि सब स्पष्ट कर देगी। वे नियति को अमान्य कर उसकी सत्ता में अविश्वास प्रकट करते हैं एवं पुरुषार्थ को मानव भाग्याभाग्य का कारक कारण मनते हैं। उनकी दृष्टि में नियति नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मनुष्य के क्रियाकलापों का नियंत्रण अथवा उसके भाग्य पर शासन करे। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता, विधाता वा विध्वंसक स्वयं है। वे :

१. भरत के यह पूछने पर कि माँ ये कौन हैं, जो मुझे पुत्र कह रहे हैं, कालिदास की शकुंतला का' उत्तर था, कि "बेटा, अपने भाग्य से पूछो और पूर्वमेघ में यक्ष मेघ से कहता है—

तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूर बन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ —पूर्वमेघ—६

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सब के दाता राम॥

पर तो क्या कान देंगे, इसे भी नहीं स्वीकारेंगे कि 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया।'

जहाँ पुरुषार्थवादी परिस्थिति की अनुकूलता प्रतिकूलता को आलोच्यार्थ अनुशासनार्थ, अनुसंधानार्थ अथवा ऐसे ही अन्य कारणों से महत्व देता है, वहाँ नियतिवादी परिस्थिति की इस अनुकूलता प्रतिकूलता, समता विषमता के कारणों को कर्षित करता हुआ उसे नियति और दैव के आश्रित कर देता है एवं इस प्रकार पुरुषार्थ पर भी नियति का प्रभाव प्रतिष्ठापित कर देता है। बहुत स्वाभाविक है कि पुरुषार्थवादी नियतिवादियों की इस स्थापना में, और अधिक जिज्ञासा एवं और अधिक अनुसंधान के लिये औदास्य एवं अवज्ञा की स्थिति में प्रयत्नलाघव की मनोवृत्ति की गंध पाएँ। ज्ञात की सीमा के अतिक्रमण में हतोत्साहजन्य अरुचि के आभास में उनके आत्मविश्वास का स्पष्ट अभाव उन्हें दिखाई दे जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।

किंतु पुरुषार्थवादी मरण के प्रसंग में भी अनुत्साहित नहीं हैं। कभी प्रजनन पर मानव आधिपत्य का उद्घोष उन्हें आस्थावान् बना जाता है तो कभी यह सूचना कि विज्ञान की प्रक्रिया से एक स्कंध पर दो सग्रीव शिर संचालित हो रहे हैं (एक मूल, एक आरोपित) अथवा यह सूचना कि अस्वस्थ, क्षत हृदय को वैज्ञानिक मोटर से स्थानांतरित कर मानवजीवन संताप पा रहा है उन्हें आशावान् रखने के लिये अल्प नहीं है। प्राणरस एवं प्राणवायु के रहस्योद्घाटन के लिये निरंतर अन्वेषणात्मक अध्ययन जो अग्रसर हो रहा है वह पुरुषार्थवादियों के संबंधित आशावाद को उत्तरोत्तर प्राणपुष्ट करता जा रहा है।

अतः संबंधित प्रश्न के प्रकरण में परिशीलन करते हुए हम कालक्रम से कम से कम दो विचारमंडल पाते हैं। ऐसे दो विचारमंडलों एक वह जो नियति की अत्यंत अवज्ञा करता है और दूसरा वह जो नियति में अटूट श्रद्धा प्रकट करता है—को छोड़कर तीसरा भी एक मंडल है।

यह तृतीय मंडल उपर्युक्त दो मंडलों में मानो सामंजस्य संस्थापन की चेष्टा में यह मत प्रकट करता पाया जाता है कि नियति और पुरुषार्थ वस्तुतः सहगामी हैं, प्रतिगामी नहीं। भाग्य पुरुषार्थ का प्रेमी और सहायक है। यद्यपि ये मानते हैं कि पुरुषार्थ वा कर्तृत्वशक्ति के अभाव में प्रायः व्यक्ति का उदय नहीं होता, तथापि ये यह भी पाते हैं कि बहुधा नहीं तो कभी कभी अवश्य प्राणी का पुरुषार्थ वांछित फलोत्पन्न करने में असफल हो जाता है। ऐसी मंदभाग्यता किंवा नियति के अभिलेख के कारण होती है। निरुद्यमी भी कभी कभी, बिरले

ही सही, अप्रत्याशित सुखद जीवनदशा को प्राप्त होता है। ऐसा नियति की अनुकंपा से होता है। ये यद्यपि वैदिक ऋषियों की एतत्संबंधी पूर्वकृत कर्मात्मक व्याख्या सुन लेते हैं, तथापि इनकी आत्मा नियति की ओर ही अभिमुख रहती है।

निष्कर्ष यह कि ये इस लोकानुभूति की अवज्ञा नहीं करते कि जीवनक्रम में यदा कदा पुरुषार्थी भी श्रीहत पाए जाते हैं और निरुद्यमी भाग्याधारी भी श्रीमंत। तथापि ये इस प्रत्यक्षानुभूति से भी नहीं हटते कि पुरुषार्थी बहुधा श्रीहत नहीं, श्रीमत ही पाए जाते हैं। अतः इन कीनिष्पत्ति है कि नियति का पुरुषार्थ से प्रातीप्य नहीं सामीप्य संबंध है।

हिंदी के आधुनिक काल के अग्रणी साहित्यिकों एवं कविपुंगवों में कतिपय जिन मूर्धन्य व्यक्तियों को इस प्रश्न ने अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित-आंदोलित किया है, वे हैं :गुप्त, 'प्रसाद' और 'दिनकर'।

जिस प्रकार गुप्त जी की रचनाओं में उनके पात्रादि भाग्य और पुरुषार्थ के प्रति श्रद्धा और आस्था प्रकट करते हैं, उसी प्रकार 'प्रसाद' जी की अधिकांश रचनाओं में भी विशेषकर नाटकों में, श्रद्धा आस्था का यह प्रश्न प्रायः उदित होता रहता है। नियति और पुरुषार्थ का वहाँ पुनः पुनः उद्ग्रीव होना ही यह सूचित करता है कि इसने उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट किया है।

स्व० श्री मैथिलीशरण गुप्त की दो कीर्तिस्तंभ रचनाओं की इन पंक्तियों का उल्लेख इस प्रसंग मे अनपेक्ष्य नहीं होगा :

(क) 'अबल तुम्हारा राम नहीं, विधि भी इसपर वाम नहीं।'[1]

(ख) 'आए खेत पर ही दैव ओले'[2]

(ग) 'न जाने दैव को स्वीकार क्या है ?'
'रहो, देखूँ कि यह व्यापार क्या है ? — साकेत

(घ) 'भले ही दैव का बल दैव जाने, पुरुष जो है न क्यों पुरुषार्थ माने ?'[3]

(ङ) 'नियति सी पास बैठी कैकेयी थी'[4]

१. साकेत, पंचमावृत्ति, २००१ वि०, पृष्ठ ७७।
२. वही, पृ० ७०।
३. वही, पृ० ४३।
४. वही, पृ० ५४।

(च) 'भाग्यवश रहते हैं बस दीन, वीर रखते हैं उसे अधीन ।[५]'

(छ) 'नाथ कहाँ हो हाय तुम ? मैं अदृष्ट के हाथ ।'[६]

(ज) 'मेरी नियति न क्षेत्रमय ये बीज अब भी बो रही । मैं भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही ?[७]'

(त) 'फिर भी गोपा के कपाल में कहाँ आज यह भोग ?[८]'

उपर्युद्धृत उदाहरणों से सिद्ध होता कि गुप्त जी नियति और पुरुषार्थ के महत्व पर दृष्टिनिक्षेप करना चाहते हैं। उनके मस्तिष्क में, जीवन में, इसकी महिमा एवं इसकी ग्राह्यता अग्राह्यता संबंधी द्वंद्व, विद्यमान है। स्पष्ट ही, उनकी रचनाओं में स्थल स्थल पर पुरुषार्थ के प्रति भी अतिमान्य भाव प्रदर्शित हुए हैं, तथापि जहाँ वे पुरुषार्थ की प्रबलता प्रतिध्वनित करते हैं, वहाँ वे विवेक और साहस से ही ऐसा करते पाए जाते हैं; यथा, 'साकेत' में लक्ष्मण के द्वारा झुँझलाहट और आक्रोश की अवस्था में एवं 'यशोधरा' में सिद्धार्थ द्वारा न्यूनाधिक समानांतर अवस्था मे। अन्यथा वे अधिकाश में नियति की सत्ता स्वीकार करनेवाले ही हैं। ऐसा न होता तो उनके इतने पात्रों के भाव-विचार-विश्वास आदि नियति से आच्छादित न होते और न स्थितिविशेष की समता विषमता में प्रायः नियति का स्मरण ही करते पाए जाते।

स्व० गुप्त जी के ऊपर विविध भारतीय दर्शन के गूढाध्ययन का एवं तज्जन्य वातावरण का यथेष्ट संस्कार रहा। अतः वे केवल नियतिवादी ही नहीं, मानवतावादी भी हैं। इसलिये वे केवल नियति में ही नहीं, कर्म में भी विश्वास प्रदर्शित करते हैं। तुलसी की इन पंक्तियों की नाईं :

'काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता।
निज कृत करम भोगु सब भ्राता'॥

गुप्त जी की यशोधरा की इस पंक्ति में भी —'निज कर्मों की ही कुशल सदैव मनाऊँ' कर्म के प्रति बलवती आस्था प्रदर्शित करने का प्रयत्न है। किंतु उपर्युक्त पंक्ति के ठीक पूर्व की पंक्ति — 'भोगें इंद्रिय, जो भोग विधानविहित है।' में भाग्य की भी महिमा साथ ही समर्थित हुई है। अतः यद्यपि गुप्त जी नियति को

५. वही, पृष्ठ ३३।
६. यशोधरा, पंचमावृत्ति, १६६८ वि०, पृष्ठ ६०।
७. वही, पृ० ८७।
८, वही, पृष्ठ ४८।

अप्रत्यक्ष मानकर भी नियतिवादिता के प्रति ही अधिक झुके हुए हैं, तथापि वे पौरुष के कर्तृत्व में अविश्वासी नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि सुकर्म का फल सुंदर होता है। नियति अप्रत्यक्ष है, पुरुषार्थ की उपलब्धि प्रति दिन की प्रत्यक्षानुभूति।

वस्तुस्थिति तो यह है कि, जीवन-काव्य-प्रणेताओं ने ऐकांतिक अथवा आत्यंतिक नियतिवादिता को कभी भी अपने अनुकूल नहीं पाया। वस्तुतः, जो केवल नियतिवादी है, वह न तो नियतिवादी ही है, न पुरुषार्थवादी ही। वह है मात्र आलस्यवादी। स्व० गुप्त जी आलस्यवादी कभी नहीं हैं। अतः आप भाग्य और पुरुषार्थ में न्यूनाधिक सामंजस्य संस्थापनार्थ मानव मन को प्रेरित करते दिखाई देते हैं। निष्कर्ष यह कि भाग्य-पुरुषार्थ-वादी उपर्युक्त मंडलों में आप तृतीय मंडल में आसीन होंगे।

कथित प्रसंग में, श्री जयशंकर 'प्रसाद' के मानस के परिशीलनक्रम में, हमें श्री गुलाबराय की इन पंक्तियों का स्मरण हो आता है—'जनमेजय के नागयज्ञ में वेदव्यास जी को नियतिवादी दिखलाकर 'प्रसाद' जी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनके विचार क्या हैं।'[१]

केवल 'नागयज्ञ' में नहीं ही नहीं, 'प्रसाद' के अन्य नाटकों में भी, नियति संबंधी उनकी धारणा अभिव्यक्ति हुई है। गुप्त जी के पात्रों की भाँति ही 'प्रसाद' जी के पात्र भी समय समय पर नियति और पुरुषार्थ के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते पाए जाते हैं। 'प्रसाद' जी की रचनाओं से अवतरित ये उद्धरण हमारी पूर्वोक्त एवं परवर्ती स्थापनाओं को बल प्रदान करेंगे :

(क) 'तब तो अदृष्ट ही कुमार के जीवन का सहायक होगा'।[२]

(ख) 'सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्य पर विश्वास है।'[३]

(ग) 'जीवन नियति के आदेश पर चलेगा ही ?
तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं।'[४]

(घ) 'नहीं महाराज ! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है, वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ—कर्म से क्यों विरक्त रहूँ ?'[५]

१. 'प्रसाद' जी की कला, गुलाबराय, प्रसाद की विचारधारा, पृष्ठ १०२।
२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १३।
३. वही, पृष्ठ १७।
४. वही, पृष्ठ २८।
५. अजातशत्रु, अंक १, पृष्ठ २५।

(ङ) 'नियति सुंदरी के भवों में बल पड़ने लगा है।'[1]

(च) 'तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त की रक्षा की थी! नियति अब इन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है।'[2]

(छ) 'तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है।'[3]

(ज) 'जीवित हूँ नंद! नियति सम्राटों से भी प्रबल है।'[4]

इस प्रकार हम पाते हैं कि 'प्रसाद' जी की रचनाओं में भी नियति के प्रति आस्था एवं उसकी सत्ता में विश्वास छाया हुआ है। गुप्त जी की तरह ही 'प्रसाद' जी भी पौराणिक ऐतिहासिक साहित्य एवं भारतीय दर्शन के मनस्वी अध्येता रहे हैं। भारतीय दर्शन के सार गीता के दृष्टिकोण से ये भी स्पष्टतः प्रभावित हैं। अतः इनकी रचनाओं में भी समन्वय एवं तज्जन्य समरसता की चेष्टा कम नहीं है। विविध दर्शनों के विवादी स्वरों का शमन समन्वय में है, इस तथ्य को वे स्वीकार करते हैं। विरोध का आरंभिक उत्तर समर्पण वा संहार कार्य नहीं, सामंजस्यचेष्टा है। ऐसे विचार में उनकी अनुरक्ति है। ये भी नियति के साथ पुरुषार्थकर्म के सामंजस्य संस्थापन के प्रयासी हैं। इसलिये, भाग्य के साथ बाहुबल की चर्चा के स्थल इनकी रचनाओं में थोड़े नहीं हैं। 'अजातशत्रु' के विरुद्धक की माता अपने पुत्र को पुरुषार्थ करने का आदेश देती है और 'चंद्रगुप्त' की अलका कहती है : 'वे वीर हैं मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है, उसकी साधना के लिये प्रकृति, अदृष्ट दैव या ईश्वर कुछ न कुछ अवलंब जुटा ही देगा'[5]। अर्थात् पुरुषार्थी को दैवादि की भी सहायता मिल ही जाती है, वह कर्मक्षेत्र में निरवलंब अथवा एकाकी असहाय नहीं रह जाता। यह भाव यहाँ स्पष्टतः अभिव्यंजित है।

यद्यपि 'चंद्रगुप्त' ने चाणक्य के इस वाक्य में—तब हमलोग जिस सृष्टि में स्वतंत्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें ? चाणक्य के द्वारा दो क्षण के लिये दैव को अमान्य कर देने के संघर्ष का प्रयास पाकर प्रो० सत्येंद्र एम० ए० 'प्रसाद' जी के पात्रों के संबंध में लिखते हैं– "सभी नियतिवादी हैं, पर चंद्रगुप्त में नियति का यह

१. चंद्रगुप्त, प्रथम अंक, पृ० २८।
२. वही, चतुर्थ अंक, पृ० १७१।
३. वही, पृ० १७१।
४. वही, तृतीय अंक, पृ० १४१।
५. वही, चतुर्थ अंक, पृ० १८०।

खेल भी बदला हुआ है।' तथापि पूर्वोद्धृत उदाहरणों से ही यह विदित होगा कि उक्त चंद्रगुप्त नाटक में भी एकाधिक स्थलों पर, अन्य पात्रों को तो छोड़िए, स्वयं चाणक्य भी नियति को स्वीकारता आया है। एवं श्री सत्येंद्र के उद्धरण में भी दृश्यजगत् में नियति की सत्ता की अमान्यता के संबंध में चाणक्य का हृदय संघर्ष ही कर रहा है। उसका शंकाग्रस्त पग वस्तुतः विश्वासशृंखला को छिन्न भिन्न कर नियतिपरिधि को पादाक्रांत करने में अपेक्षित ओज का अभाव अनुभव कर रहा है। अतः वह स्पष्ट निर्णय प्रदान करने में असमर्थ है। 'प्रसाद' जी के पात्र विशेषकर सद्गुणोपेत वा पुरुषार्थी पात्र, नियति की एकांत उपेक्षा कर ही नहीं सकते क्योंकि पात्रकार की आस्था अनास्था से वे अछूते नहीं रह सकते। यह उनके साथ है।

'प्रसाद' जी को जहाँ कहीं स्वतंत्र कथनसंयोजन का एतत्संबंधी अवसर मिला है, वहीं उन्होंने नियति में अपनी आस्था का उद्घोष किया है। कामायनी की अधोद्धृत पंक्तियाँ 'प्रसाद' जी की नियतिवादिता की अनुच्छेदस्थापना करेंगी :

(क) चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल, दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।[२]

(ख) देखते थे अग्निशाला से कुतूहल युक्त, मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधनयुक्त।[३]

(ग) इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही। खोखली शून्य में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही।[४]

(घ) तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे, नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।[५]

(ङ) नियति खेल देखूँ न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं।[६]

(च) कर्मचक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियतिप्रेरणा।[७]

१. 'प्रसाद' जी की कला, श्री गुलाबराय, 'प्रसाद' जी के नाटक और पात्रकल्पना पृ० १२।

२. कामायनी, वासना, पृ० ६४।

३. वही, पृ० ६६।

४. वही, इड़ा पृ० १२२।

५. वही, संघर्ष, पृ० १५६।

६. वही, रहस्य, पृ० १३६।

७. वही, पृ० १०१।

(छ) नियति चलाती चक्र यह तृष्णाजनित ममत्व वासना[1] ।

उपर्युक्त उद्धरण क, ख, और घ, में स्वयं कवि मुखर है। शेष, ङ, च और छ, में कवि का शक्तिरज्व-जर्जरित विगतोन्माद मनु, एवं ग में आशंकित, ग्लानि से आतंकित, पथभ्रांत मनु ।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी विषयविशेष के संबंध में कवि के अभिमत को पकड़ा जा सकता है । जबतक किसी वस्तु की अनुकूलता प्रतिकूलता या प्रकारान्य की उसकी सत्ता में उसका श्रद्धाविश्वास न हो, तब तक वह अपनी रचनाओं में यत्र तत्र सर्वत्र उसके स्तवन में शब्दांकन नहीं करेगा । 'प्रसाद' जी की रचनाराशि में ऐसे स्तवन स्थल स्थल पर मिलते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निश्चय ही कह सकते हैं कि 'प्रसाद' जी नियतिवादी हैं, तथापि वे कर्म और पुरुषार्थ में भी यत्किंचित् आस्था रखते हैं। वे कर्म और पुरुषार्थाश्रयण करना इसलिये चाहते हैं कि पुरुषार्थ को दैव या नियति की सहायता की आशा है। और वे यह भी मानते हैं कि जब जो नियत है वह घटेगा ही, तो कर्म और पुरुषार्थ के त्याग से ही परिस्थिति में कोई सुधार या उत्कर्ष आने को नहीं। अतः नियति की डोरी पकड़कर कर्मकूप में कूदना ही उचित है । नियति पर निर्भर रहकर पुरुषार्थ का परित्याग अनुचित है, अश्रेयस्कर भी। 'प्रसाद' जी यह मानते हैं कि भाग्यवाद मानव के लिये संतोषदायक एवं आश्वासनकारक अवश्य है, तथापि यह मानव जीवन के कर्ममय पक्ष को प्रेरणा न देकर अधिकांश में आहत ही करता है। इसलिये इनकी रचनाओं में भी प्रथममंडलागत अतिस्पर्शी विचार आदृत न हुए, वरन् वहाँ से कर्मसंदेश ही निर्गत हुआ ।

निष्कर्ष यह कि नियतिवादी होकर भी पुरुषार्थ, भुजबल, कर्म आदि की उपेक्षा न करनेवाले 'प्रसाद' जी भी सामंजस्यवादी प्रवृत्ति के द्योतन के कारण तृतीय मंडल में ही परिगणित होंगे । तथापि 'प्रसाद' जी के संशयालु विश्वास पर नियतिवादिता का रंग गहरा है ।

एकाधिक शाश्वत[2] प्रश्नों पर विचार करनेवाले कतिपय गण्य मान्य आधुनिक कवियों में 'दिनकर' एक हैं। उनका विचारप्रधान कवित्वरूप, कवित्वमय

१. वही।

२. 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध और शांति जैसी शाश्वत समस्या पर विचार किया गया है।—राय कृष्णदास।

चिंतन के अनुपम निदर्शन 'कुरुक्षेत्र'[1] में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। प्रतिपाद्य युगप्रश्न किंवा शाश्वत प्रश्न के प्रति यहाँ वे अन्यत्र से अधिक जागरूक हैं।[2] अतः वर्तमान पृष्ठभूमि में यह विवेचन भी अपेक्ष्य है कि जिस 'कुरुक्षेत्र' की भावधारा का उद्गम वेदव्यास का महाभारत है[3] उसके कवि के मस्तिष्क में नियति पुरुषार्थ का संबंधस्वरूप कैसा है। 'दिनकर' और वेदव्यास की तत्संबंधी धारणा में कितना साम्य वा वैषम्य है एवं इस प्रकरण में इनके भीष्म और उनके भीष्म में कितना आनुरूप्य वा प्रातीप्य है।

मानव के प्रति कृत अनय से क्षुब्ध कवि का दर्पयुक्त पौरुषाभिमानी मनुष्य दुष्ट दैव के दंभदलन के लिये यह कहकर कृतसंकल्प होता है :

प्रेम बिरवा आँगन में रोप,
रहे थे हम जब हिल मिल सींच।
अचानक कुटिल नियति ने मुझे,
लिया उस दिव्य लोक से खींच।

× × ×

मिटा दूँगा ब्रह्मा का लेख,
फिरा लूँगा खोया निज दाँव।
चलूँगा निजबल हो निःशंक,
नियति के सिर पर देकर पाँव॥

—रसवंती

और आगे जिस 'दिनकर' का पुरुषार्थप्रेम 'सामधेनी' में कहता है—

१. 'चिंतन कितना कवित्वमय किया जा सकता है, उसका विचित्र निदर्शन इसमें मिलता है'।—मैथलीशरण गुप्त (कुरुक्षेत्र पर संमति)।

२. बाहुबल अथवा आत्मबल, निवृत्तिमार्ग अथवा प्रवृत्तिमार्ग का प्रश्न आज सारे विश्व के सामने नए रूप में आ खड़ा हुआ है। 'दिनकर' ने इन सामयिक प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया है।—'राष्ट्रभाषा', वर्धा (कुरुक्षेत्र पर संमति)

३. जो इसे पढ़ेगा वह महाभारत का हृदयसर्वस्व पा जाएगा।—शांतिप्रिय द्विवेदी।

साँसों में बाँधो महाकाश,
मारुतपति नाम तुम्हारा है,
नाचती मही को थिर करना,
योगेश्वर! काम तुम्हारा है।[1]

तथा वहीं मानव शक्ति एवं पौरुष की प्रकर्षपूर्ण एवं प्रतिपन्न स्थिति—यौवन—के कर्तृत्व के पकाशनार्थ जो पुरुषार्थप्रगाढ़ इन प्रज्वलित पंक्तियों की सर्जना करता है :

"प्रभात शृंग से घड़े सुवर्ण के उंड़ेलती,
रँगी हुई घटा में भानु को उछाल खेलती,
तुषारजाल में सहस्र हेमदीप बालती,
समुद्र की तरंग में हिरण्यधूलि डालती,
सुनील चीर को सुवर्ण बीच बोरती हुई,
धरा के ताल ताल में उसे निचोड़ती हुई,
उषा के हाथ की विभा लुटा रही जवानियाँ"।[2]

× × ×

खगोल में धुआँ बिखेरती प्रतप्त श्वास से,
भविष्य को पुकारी हुई प्रचंड हास से,
उछाल देवलोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई,
विराट् रूप विश्व को दिखा रहीं जवानियाँ"।[3]

उसी दिनकर के भीष्म 'कुरुक्षेत्र' में मनुष्य की कर्तृत्वशक्ति एवं पुरुषार्थ के गौरव पर प्रकाश डालते हुए सघोष कहते हैं :

"इस भुज, इस प्रज्ञा के संमुख
कौन ठहर सकता है?
कौन विभव वह जो कि पुरुष को
दुर्लभ रह सकता है?" —'कुरुक्षेत्र'।

१. सामधेनी, हे मेरे स्वदेश, पृष्ठ १०।
२. वही, जवानियाँ, पृष्ठ ७४–७५।
३. वही, पृष्ठ ७६–७७।

वे जानते हैं कि मनुष्य की नई प्रेरक जिज्ञासाएँ एवं सिंधुमंथन में दक्ष सुबलिष्ठ भुजाएँ प्रकृति के सारे रहस्यों को सहज ही हस्तामलकवत् कर सकती हैं। इच्छा मात्र से मनुष्य धरती को स्वर्ग में परिणत कर सकता है। उद्यमी नरों के लिये असाध्य वा असंभव कुछ भी नहीं है। मनुष्य अपनी स्थिति का सुधार स्वयं कर सकता है। मानव के सुख दुःख में नियति वा भाग्य का हाथ नहीं है। उद्यम निरुद्यम, पुरुषार्थ अपुरुषार्थ से ही सुख दुःख आविर्भूत होते हैं। अतः कोई पुरुषार्थी भी अगर यह समझता है कि उसकी अनुकूल स्थिति दैवानुकंपा से है, सौभाग्य के कारण है, तो वह भ्रम में है। प्रत्यक्ष प्रकृति किसी भाग्यबल से नहीं, मानव पुरुषार्थ से परामूत, अधिकृत एवं अनुशासित होती है। अतः अनुष्ण अनुत्साही व्यक्ति ही नियति वा भाग्य पर विश्वास करते हैं। अन्यथा, जो वीर, साहसी और पौरुषवान् हैं, वे पुरुषार्थ से नियति की वक्रता को बरबस ऋजु कर देते हैं।

"प्रकृति नहीं डरकर झुकती है
कभी भाग्य के बल से,
सदा हारती वह मनुष्य के
उद्यम से, श्रमजल से।

× × ×

ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा
करते निरुद्यमी प्राणी,
धोते वीर कुअंक भाल का
बहा भ्रुवों से पानी—

—कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०६।

× × ×

ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में
मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने अपने
भुजबल से ही पाया है।"

—वही।

भाग्यवाद, उनके अनुसार, पाप का आवरण है, अपनी दुर्बलताओं को भाग्यदि की दुहाई देकर ढँकने का प्रवंचनापूर्ण प्रयास है। वह पीड़ित व्यक्ति जो अपनी दीन हीन अवस्था को दैवी इच्छा अथवा नियति का अभिलेख मानकर उसके सुधारार्थ अथवा अनयमूल के उच्छेदनार्थ अग्रसर नहीं होता, वस्तुतः अपनी अकर्मण्यता ही प्रकट करता है। अन्यायी शोषक भी तब शोषण उत्पीड़न से

पराङ्मुख न होकर उनकी दयनीयता को दैवी कह उनके प्रति छलपूर्ण सहानुभूति प्रदर्शित करता हुआ उन्हें पुनः पुनः प्रवंचित करने की, चेष्टा करता है।

भीष्म पुनः कहते हैं कि भाग्यवादी से किंचित् पूछ देखो कि यदि विधि का अंक ही प्रबल है तो वसुधा स्वयं ही क्यों नहीं मानवों के पग पर रत्न उड़ेल देती है। उन्हें उतना परिश्रम पुरुषार्थ क्यों करना पड़ता है?

भाग्यवादी किंतु कवि के भीष्म के इस प्रश्न का उत्तर सहज ही प्रदान कर देगा और वेदव्यास का महाभारत भी तब मौन न रहेगा। स्वयं भीष्म भी, महाभारतकार वेदव्यास के, जो स्वयं कम पुरुषार्थशील नहीं है, इस संबंध में अपना एक मत रखते हैं। तथापि, उनका मत अधिकाश में पुरुषार्थाश्रयी है। अन्यथा, वेदव्यास की अनेक गाथाएँ[1] भाग्यवादियों का साथ देंगी कि जो भाग्यांकित है वही होगा एवं जो होगा वह सुनिश्चित है, पूर्वनियोजित है। अतः जो अभीप्सित है किंतु भाग्यांकित नहीं, वह नहीं होगा। वसुधा तब, वहीं और तभी रत्न उगलेगी जब और जहाँ रत्न उगलना पूर्वनियोजित है, भाग्याधारित है। भाग्यप्रेरित प्राणी ही एतादृश प्रयास भी करता है एवं उसी के कारण कोई मार्गांत तक जाता है, कोई अर्धमार्ग से ही प्रत्यावर्तित हो जाता है एवं कोई संकल्प कर ही विमूढ़ हो मुक्तिव्याकुलता में उसका परित्याग कर देता है। अर्थात् उनका निष्कर्ष होगा कि नियति द्वारा जो नियत है, उसमें तिल मात्र भी अंतर संभव नहीं[2]। निर्धारित क्रियाप्रणालियों में, निर्धारित अंश में निर्धारित प्रतिभाएँ निःसृत होकर निर्दिष्ट रहस्यो-पलब्धि में कृतकार्य वा विफल होती हैं। सफलताओं विफलताओं का अंत नहीं है, तथापि सर्वत्र यथांकित है। नियति जिस प्रकार सफलताओं के उत्स को उन्मुक्तकर सकती है उसी प्रकार प्रत्यूहों का पहाड़ भी खड़ा कर सकती है।

कवि के भीष्म को भाग्यवाद में अविश्वास एवं कर्म-फल-भोग में पर्याप्त संशय है। पूर्वजन्म परजन्म में उन्हें श्रद्धा नहीं और न जन्मातरभोग में ही। उनकी दृष्टि के शल्य तो वे छल-छद्म-सेवी समर्थ भाग्यवादी हो रहे हैं जो कहते हैं कि धनिक वर्ग, श्रीमंत कुबेरकुलोद्भव समुदाय, अपने पूर्वार्जित पुण्य के प्रताप

१. अनुशासनपर्व दैव पुरुषार्थ संबंधी गाथा में यद्यपि आंदोलित स्थिति है एवं निश्चय का अभाव सा दिखाई देता है तथापि यह स्पष्ट कहा गया है: किंतु उससे यह नहीं समझना चाहिए कि दैव कुछ है ही नहीं, क्योंकि सारे जगत् की प्रवृत्ति ही दैव के अधीन है।

२. हे शचीपते! दैव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। — अनुशासनपर्व, पांचवा अध्याय, इंद्र-शुक-संवाद।

से ही उपभोग की वर्तमान परिस्थिति को प्राप्त है। मानव सुख के सम्यक् विभाजन में विश्वास करनेवाले समतावादी इस भीष्म के लिये ऐसे तर्क असह्य हैं। अतः वह जुगुप्सा और विद्रोह में भरकर कहता है :

और मरा जब पूर्वजन्म में
　वह धन संचित करके,
विदा हुआ न्यास समर्पित
　किसके घर में धर के?

— कुरुक्षेत्र।

ऐसे प्रवंचक, परपीड़कों के प्रति भीष्म का यह आक्रोश तो ठीक ही है, किंतु, इससे दार्शनिक भाग्यवादियों का सिद्धांत किसी प्रकार आहत नहीं होता। क्योंकि तब उनका तर्क होगा कि यह ठीक है कि जो वर्तमान जीवन मात्र को सत्य मानता है, विगत में जिसका विश्वास ही नहीं, वह इस विगत के प्रति कुतूहल ही प्रकट करेगा। वर्तमान का अतीत से संबंध जोड़ने में अक्षम वह अतीत की दृष्टि से वर्तमान की व्याख्या करने में स्वभावतः असमर्थ होगा। अतः इस दशा में वह कैसे ज्ञानार्जन कर सकता है कि किसने किस रूप में कहाँ पापपुण्यार्जन किया अथवा कौन किस विगत कर्माकर्म का परिणाम पा रहा है? जिस प्रमाणाधार पर ऐसा व्यक्ति सिद्ध कर सकेगा कि प्राणिविशेष जो, आज स्थलविशेष में कायाबद्ध हो सुख-शांति-लाभ कर रहा है, वह उस स्थल को ही साक्षात् असाक्षात् रूप में कुछ दे नहीं गया था? स्मृति साथ नहीं देती, यह दूसरी बात है।

निष्कर्ष यह कि पूर्वजन्मवादी, कर्म-फल-विश्वासी भाग्याधारी के इस विश्वास को छिन्न भिन्न करने के लिये प्रयोगवादी पुरुषार्थी को प्रथम तो पूर्व एवं परजीवन, पूर्वजन्म एवं परजन्म के संबंध की परीक्षा करनी होगी, तब व्यक्तिविशेष के गतागत जीवन की आलोचना करनी होगी; तभी वह इस संबंध में कोई निर्णयात्मक, स्वीकार्य संमति प्रेषित कर सकेगा, अन्यथा यह दुःसाध्य है, क्योंकि नियतिवादियों को अपने पक्ष के पोषणार्थ और कुछ नहीं तो कम से कम अनेक विश्रुत गाथाएँ तो हैं ही, आगे भी बनती चल सकती हैं। अतः जबतक इनके विपक्षी ऐसा नहीं कर पाते तबतक इन प्रश्नों को खड़ा कर वे स्वभावतः स्वयं ही इनमें उलझ जाएँगे।

१. निरंतर कुछ राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय मनोविज्ञान संस्थान ऐसी घटनाओं के परिक्षण विश्लेषण में लगे हुए हैं जिनमें विगत जीवनस्मरण की चमत्कारी सूचना मिलती है।

किंतु 'दिनकर' जी के भीष्म को विषय के इस पक्ष को ध्यानाधीन करने का अवकाश नहीं। अभीष्ट पुरुषार्थ के पोषण में वे पुनः कहते हैं कि भाग्य के नहीं, इस पुरुषार्थ के ही अधीन सब कुछ है :

'नरसमाज का भाग्य एक है
वह श्रम, वह भुजबल है,
जिसके संमुख झुकी हुई
पृथ्वी, विनीत नभतल है।

इसी स्थल पर व्यास के भीष्म के नियति-पुरुषार्थ-संबंधी दृष्टिकोण से भी अवगत हो लेना उचित है। हम देखते हैं कि न केवल व्यास के भीष्म ने ही स्थल स्थल पर इस संबंध में अपनी संमति प्रकट की है, अपितु व्यास के सद्गुणसंपन्न कुछ अन्य पात्रों ने भी इस प्रसंग में यदा कदा अपने अपने विचार प्रकट किए हैं। एक, भीष्म पर्व का ही अवलोकन कर हम पाते हैं कि धृतराष्ट्र, संजय तथा कर्ण से लेकर भीष्म एवं व्यास प्रभृति सभी एक प्रकार से नियतिवादी ही रहे हैं। पुष्ट्यर्थ निम्नोधृत पंक्तियाँ अवलोक्य हैं :

(क) "अब आप सुनें और वृथा दुःखी मत हों, क्योंकि यह सब भावी है।"[1] (संजय, धृतराष्ट्र से)

(ख) "हे संजय ! मैं तो समझता हूँ कि जो कुछ हो रहा है वह सब दैवाधीन है।"[2] (धृतराष्ट्र, संजय से)

(ग) "जो होनहार है उसे कोई टालना चाहे तो वह टाला नहीं जा सकता। ऐसा कौन पुरुष है जो अपने पुरुषार्थ से दैवी घटनाओं को रोक सके।"[3] (कर्ण, भीष्म से)

(घ) 'जो होनहार था वही हुआ है, पुरुषार्थ से कोई भाग्य को पलट नहीं सकता है।"[4] (भीष्म, कर्ण से)

इस प्रकार व्यास के अनेक पात्र नियतिवादी हैं। नियति की सत्ता में उनका विश्वास तो निश्चय ही स्पष्ट है। उसकी प्रबलता भी अधिकांश में मान्य है। अपने अनेक पात्रों की नियतिवादिता के कारण स्वयं व्यास भी यद्यपि निर्विवाद ही

१ भीष्मपर्व', १५वाँ अध्याय (अनुवाद), पृ० ४७।
२ वही, ४५ वाँ अध्याय, पृ० २३८।
३ वही, अध्याय १२, पृ० ४१६।
४ वही, पृ० ४३५।

नियतिवादी सिद्ध होते हैं, तथापि अपनी नियतिवादी आस्था को और भी स्पष्टतः अभिव्यक्त कर देने के लिये ही मानो भीष्मपर्व में अवसर निकालकर उन्होंने धृतराष्ट्र के प्रति यह उक्ति की है: --

"हे नरेंद्र ! अवश्यंभावी टल नहीं सकती। अतः इसके लिये तुम्हें शोक करना उचित नहीं।[1]"

अतः इस प्रसंग में व्यास-दिनकर-प्रातीप्य प्रायः प्रत्यक्ष है। व्यास के भीष्म भी यद्यपि अधिकांश में नियतिवादी ही हैं, तथापि हम पाते हैं कि अनुशासनपर्व में दैव-पुरुषार्थ-संबंधी युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म ने वशिष्ठ और ब्रह्मा के इस आशय के संवाद की चर्चा की थी जो इस प्रकार है और जिससे दिनकर के भीष्म की पुरुषार्थास्था मिलती है एवं जो भीष्म के द्वारा कथित होने के कारण स्वयं भीष्म की दृष्टि को भी बहुत कुछ निश्चय ही अभिव्यक्त करता है--"जैसे बिना बीज के खेत जोतना व्यर्थ है, वैसे ही पुरुषार्थ के बिना भाग्य भी नहीं फलता। किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दैव कुछ है ही नहीं। क्योंकि सारे जगत् की प्रवृत्ति ही दैव के अधीन है। अकेले दैव में इतनी सामर्थ्य नहीं कि, वह कुमार्ग में जानेवाले को सुमार्ग पर ले जाए। गुरु का अनुसरण करनेवाले शिष्य की तरह दैव भी कर्म के पीछे पीछे चलता है। देवता, नक्षत्र, नाग, सूर्य, चंद्रमा और यक्ष पुरुषार्थ के बल पर ही मनुष्य से देवता हुए हैं।[2]"

अतः महाभारत के भीष्म नियति की सत्ता स्वीकार कर भी पुरुषार्थ से पराङ्मुख नहीं हैं। वे पुरुषार्थ की महिमा से भी परिचित हैं। इसकी क्षमता में विश्वास करते हैं। और यद्यपि वरीयता की दृष्टि में वे कहीं कहीं पुरुषार्थ के पक्ष में ही मत देंगे, तथापि इस संबंध में उनका मानस भी संशय एवं आंदोलन की स्थिति से ऊपर नहीं उठा है और निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनकी आत्मा भी वस्तुतः दोनों के सामंजस्य से ही संतृप्त होगी।

प्रसंगविशेष में, वातावरणविशेष में, एकाधिक बार, व्यास के भीष्म के पुरुषार्थस्तवन के कारण भी मानो 'दिनकर' जी के भीष्म को पौरुषमहिमा का नियति आच्छन्नकारी विस्तार करने का अवसर प्राप्त हो गया। तथापि महाभारत के भीष्म के इस कथन के--'तब भी मैं पौरुष को दैव से अधिक मानता हूँ'--अभाव में भी स्वभाव से ही पौरुषप्रेमी "दिनकर" के भीष्म इस प्रश्न के प्रकरण में पौरुष-महिमा-स्तवन में ही संलग्न होते।

१. वही, अध्याय २, पृ० ५।

२. महाभारत, अनुशासन पर्व, छठा अध्याय, दैव और पुरुषार्थ।

यद्यपि 'दिनकर' जी भी नियति की एकांत उपेक्षा करने में आद्यंत कृतकार्य नहीं हुए हैं, तथापि यह उनके उत्कट पौरुषप्रेम का ही परिणाम है कि व्यास के भीष्म की, कई स्थलों पर, नियतिश्रद्धा देखकर भी तथा अन्य प्रसंगों में प्रायः सर्वांशतः व्यासीय होते हुए भी उनके भीष्म वर्तमान प्रसंग में व्यासीय भीष्म से अधिक उग्र व्यक्तित्व और अधिक नियतिविरोधी दृष्टिकोण रखते हैं।

'दिनकर' जी और व्यास जी में भी इसपर किंचित् मतवैभिन्य है। 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में जब 'दिनकर' जी का बंधन-व्यवधान-हीन व्यक्तित्व विमुक्त होता है तब वह नियति की दासता के प्रति स्वतंत्र रूप से क्षोभ प्रकट करता हुआ कहता है कि इसकी सत्ता स्वीकार कर मानव अपने पौरुष का अपमान करता है। आज की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, मानव की विशाल विस्मयकारी सफलताएँ किसी नियति की अनुकंपा अथवा अभिमुखता का परिणाम नहीं, अपितु पुरुषार्थ की कृतकार्यता के परिणाम हैं। कवि का नियतिक्षोभ और पुरुषार्थ का जयघोष, क्रमशः, इस प्रकार निःसृत और निनादित है :

"हाय रे मानव, नियति का दास।
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास"
× × ×
"पूर्वयुग सा आज का जीवन नहीं लाचार"
× × ×
शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्व करते हैं मनुज के कार्य
मानते हैं हुक्म मानव का महावरुणेश,
और करता शब्दगुण अंबर वहन संदेश।
नव्यनर की मुष्टि में विकराल
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।
यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!"

यद्यपि आधुनिक तर्क, विज्ञान एवं बुद्धि के भौतिकवादी युग में कुछ विचारक भाग्य एवं नियति की उपेक्षा एवं पौरुष का आत्यंतिक स्तवन करते दिखाई देते हैं, तथापि, अल्पाधिक, यह उनके संस्कारगत विश्वास एवं प्रयोगवादी युग के प्रमाणान्वेषी, वैज्ञानिक, प्रमाणाधारी, तर्क के संघर्ष का परिणाम है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप जो पुरुषार्थ का जयघोष करते हुए नियति की एकांत उपेक्षा करते पाए जाते हैं, उनमें सब नहीं तो अधिकांश स्यात् आत्मप्रवंचना करते

हैं। स्वयं अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के स्वरूपज्ञान में भ्रमित होते हैं, अथवा आवरण पर आवरण डाल उसे प्रच्छन्न कर देने का प्रयास करते हैं।

किसी भी देश का जागरूक प्राणी यदि दुर्बल क्षणों में आविर्भूत अपने भावों की परीक्षा करे तो स्यात् उसे यह जानकर आश्चर्य होगा कि वह अपने सारे प्रचारोद्देश्यपूरित अथवा अनात्मनिष्ट तर्कों की विद्यमानता में भी अंतःकरण से प्रायः नियतिवादी ही है। यह दूसरी बात है कि कितने ही पुरुषार्थप्रेमी परमोद्यमी कर्मठों को इस आत्मनिरीक्षण का उनके संकुल जीवन में अवसर ही न मिले।

अतः शक्तिसंपन्नावस्था में, सफलताओं के सोपान पर मनुष्य चाहे तो प्रमादपूर्वक इसकी असीम उपेक्षा कर ले, किंतु दुर्बल असहाय क्षणों में मानव प्रायः इसी का शरणाश्रयी होता है।

उपर्युक्त संघर्ष की छाया गुप्त जी और 'प्रसाद' जी में भी विद्यमान है। तथापि उनकी रचना में प्रमाद का रंग प्रगाढ़ न होकर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही स्वरूप निखरा है। वहाँ उनके युग की प्रवृत्ति, उनकी अनुभूति एवं उनकी संशयावस्था का संमिलित रूप उतर आया है।

एवं उपर्युक्त नियतिप्रवृत्ति, दैवाभिमुखता 'दिनकर' जी में भी संलक्ष्य है। यद्यपि 'दिनकर' जी के भीष्म 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में समर्थ कहते हैं :

"सब हो सकते तुष्ट, एक सा
सब सुख पा सकते हैं।
चाहें तो पल में धरती को
स्वर्ग बना सकते हैं।"

तथापि, षष्ठ सर्ग के 'दिनकर', सांकेतिक रूप से ही सही, देवता की ओर झुकते हैं एवं पुरुष के कर्तृत्व में विश्वास रखकर भी उसका धैर्यच्युततर हृदय ईश्वर के प्रति प्रार्थनापूर्ण प्रश्न प्रेषित करता है :

"साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान् ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जलोमुखी रसा के प्राण ?"

यद्यपि इसने यह जान लिया है, कि विभिविशेष से युद्धांत हो जायगा, शांति का साम्राज्य छा जायगा, अनर्थकारण विषमता का अंत हो जायगा और यह विधि है वैषम्योन्मूलन एवं समताप्रसार की विधि, फिर भी वह ईश्वर से पूछना चाहता है कि मानव कब अपने प्रयास में सफल होगा ? ईश्वर कब उसकी सहायता कर उस सुदिन का दान देंगे ? मानव के लिये उस सुदिन

का देखना कब बदा है ? और यहीं मानव का यह पुरुषार्थाभिमान कि वह चाहे तो पल में धरती को स्वर्ग बना सकता है– स्वयं कवि की ही लेखनी और प्रार्थना से दलित हो जाता है[1]।

अतः चूँकि 'दिनकर' जी की निरंतर साधनासिक्त प्रतिभा अभी अपनी क्षमता के उत्कर्ष पर से काव्यरत्नाकर की ऊर्मियों को अधिक से अधिक स्वर्णदान देने को उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, इसलिये इस कथित प्रवृत्ति को संलक्ष्य कर यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कालक्रम से स्यात्, 'दिनकर' जी भी नियति-स्थिति की स्पष्ट स्वीकृति के लिये विवश हों एवं पुरुषार्थ के साथ इसके सामंजस्यसंस्थापन को प्रेरित हों और अंततोगत्वा इनके उत्कट पुरुषार्थप्रेम की चरम परिणति आध्यात्मिक पुरुषार्थ के अभीप्सित वैशिष्ट्य में हो।

ऐसे भी, पुरुषार्थ की चरम परिणति आध्यात्मिक पुरुषार्थ के अभीप्सित् वैशिष्ट्य में ही अभिप्रेत प्रतीत होती है। किंतु कालझंपाओं के विषम व्याघातों से प्रादुर्भूत नैराश्य ने जीवनप्राण के प्रज्वलनशील प्रवाह के लिये अपेक्षित पुरुषार्थप्रेम को उत्तरोत्तर अधिकृत, आच्छादित एवं आक्रांत कर आत्मविश्वास का दलन हनन कर दिया। वस्तुतः शक्ति के दलन एवं पराक्रम के पराभाव से उत्पन्न नैराश्य ने ही अतीत में भारत के भीरुओं को, पुरुषार्थ से पराङ्मुख कर, यहाँ की जनता को आत्मविश्वासहीन आतंकपूर्ण वातावरण में निपातित कर, एवं उन्हें निरुपाय निरवलंब बनाकर आवश्यकता से अधिक ईश्वराभिमुख कर दिया था। स्वस्थ वातावरण में भक्तिभावना से ईश्वराभिमुख होना एक बात होती, किंतु ये तो अधिकांश में भय, लाचारी, निराशा एवं पराश्रय की हीन भावना से प्रेरित होकर, विशेषकर अकर्मण्यता की मानसिक स्थिति से ग्रस्त होकर, ईश्वर, दैव आदि की ओर आकर्षित हुए थे। और, शनैः शनैः, प्रकारांतर से, अपने को मात्र भाग्याधीन छोड़कर ही आश्वस्त हो जाने का अभ्यास करने लगे थे।

अतः यद्यपि अभी, पुरुषार्थप्रेमी 'दिनकर' की रचनाओं की पुरुषार्थ-दोलित शिराओं प्रशिराओं की पीनता प्रचुरता से यही निर्णय निर्गत होता है कि कथित संघर्ष का पुरुषार्थाश्रयी सर्वाधिक उद्दाम रूप 'दिनकर' जी में विद्यमान है

१. कवि की, प्रकरण संबंधी धारणा में न तो रश्मिरथी में और न उर्वशी में ही कोई उल्लेख्य अंतर आया है। उर्वशी में तो प्रारब्ध का एक छोटा मोटा प्रकरण ही मानो आ धमका है जो एक प्रकार से नियति-सत्ता-उद्घोष मे कालिदास के विक्रमोर्वशी के भी एतत्संबंधी संकेतों से अधिक सघोष एवं मूर्तिमान है, पर थोड़ा कर्म-संपर्क-विमुख अवश्य है।

एवं इस दृष्टि से आपको अभी अपनी स्पष्टोक्तियों के कारण भाग्य पुरुषार्थवादियों के प्रथम मंडल में ही प्रतिष्ठित करना अधिक समीचीन होगा, तथापि आपके पुरुषार्थप्रेम की प्रवृत्ति आध्यात्मिक पुरुषार्थ की दिशा में उन्मुख है। उर्वशी में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है।

किंतु अभी जितना भी स्पष्ट है, सोद्देश्यता की दृष्टि से उतना भी कम नहीं है। राष्ट्रजीवन में आत्मविश्वास के पुनरावर्त्तन एवं प्रतिष्ठा के लिये 'दिनकर' जी द्वारा निर्दिष्ट पुरुषार्थपथ का अवतरण आलंबन भाँति भाँति से कविकाल में आकांक्षित हो उठा है।

*

हिंदी में अनुस्वार और अनुनासिक वर्ण

(प्रयोग और उच्चारण)

[कमलमोहन]

१ परंपरागत व्याकरण के अनुसार उदितों के पंचम वर्णों को अनुनासिक कहते हैं। अनुनासिक वर्ण वर्गों के अंतिम अक्षर हैं जिनका उच्चारण मुख तथा नासिका से होता है। ये गिनती में पाँच हैं :

ङ् ञ् ण् न् म्

साधारणतया अनुनासिक वर्णों का चिह्न अनुस्वार है—शिरोरेखा के ऊपर स्थित बिंदी [ं]।

२.१ अनुस्वार यदि पंचवर्गीय अक्षरों (उदितों) के पहले आता है तो उसका उच्चारण संबंधित वर्ग के पंचम अक्षर की भाँति होता है। यह अनुस्वार, इस प्रकार, किसी व्यंजन ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है।

उदाहरणः—कंकाल→[कङ्काल्]
चंचल →[चञ्चल]
ठंढा →[ठण्ढा]
तंतु →[तन्तु]
पंप →[पम्प्]

२.२ उच्चारण की शीघ्रता, अथवा क्षेत्रीय (रीजनल) विशेषता, अथवा आगत (उधार लिए गए, लोन) शब्दों में, उपर्युक्त नियम का अपवाद भी मिलता है।

उदाहरणः—(शीघ्र उच्चारण के फलस्वरूप)—
नूनखार→[नून्खार]
कनखल→[कन्खल]

किंतु ऐसे शब्दों में यह अनुनासिक वर्ण निहित (इनहेरेंट)—स्वर—[अ] के साथ ही लिखने की प्रथा है।)

पंजाबी कश्मीरी हिंदी में विशेषता विशेष रूप से पाई जाती है। जैसे—

पनप → [पन्प]

(आगत शब्द)— इन्कार

(ऐसे शब्दों में अनुनासिक वर्ण अपने वास्तविक रूप में बोला लिखा जाता है; उसके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग नहीं होता ।)

२.३ अनुनासिक के पूर्व अनुनासिक आने पर प्रायः उसका निर्देश अनुस्वार द्वारा नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में प्रत्येक अनुनासिक अपने वास्तविक, या निर्धारित, रूप में लिखा बोला जाता है ।

उदाहरणः—अनुगण

सन्नाटा पन्ना प्रसन्न सन्न
निम्नांकित चिमनी निम्न
पराङ्मुख वाङ्मय वाङ्मुख
षण्मुख
चिन्मय तन्मय सन्मति[1] सन्मार्ग
सम्मति[1] सम्मान सम्मेलन पम्मी रम्मी

३.१ अनुस्वार यदि ऊपर २ १ में वर्णित स्थितियों के अतिरिक्त अन्यत्र आता है तो उसका उच्चारण भिन्न होता है। इस कारण इस अनुस्वार का 'व्यक्तित्व' भी भिन्न है ।

३.२ जब यह अनुस्वार किसी स्वर के साथ होता है तो इसके उच्चारण में केवल नासिका का प्रयोग होता है। इस प्रकार यह 'शुद्ध' अनुस्वार माना जा सकता है और प्रायः इसका चिह्न शिरोरेखा के ऊपर अर्धचंद्र और बिंदी—[ँ] —होता है[2] ।

१. यदि इन शब्दों मे [न्] तथा [म्] के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाय तो सदैव **सम्मति** पढ़ा जायगा और कालांतर में **सन्मति** का लोप ही हो जायगा, ऐसी आशंका है ।

२. यह ध्वनि हिंदी मे प्रत्येक स्वर के साथ सम्भव है। किंतु लिखने में अर्धचंद्र का प्रयोग अधिकतर उन्हीं स्वरों तक सीमित रहता है जिनकी मात्राएँ शिरोरेखा के ऊपर नहीं लगती, जैसे :— [अ] (ा), [आ] (ा), [उ] (ु), [ऊ] (ू), । जिन स्वरों की मात्राएँ शिरोरेखा के ऊपर लगती हैं उनके साथ खाली बिंदी का प्रयोग किया जाता है; जैसे :— [इ] (ि), [ई] (ी), [ए] (े), [ऐ] (ै), [ओ] (ो),

यह 'शुद्ध' अनुस्वार एक स्वरध्वनि का प्रतिनिधि है।

उदाहरण:— अँदरसा आँवला पें उँह ऊँट ऊँहुँऽ
फाँसी बिसवाँसी[१] ढलुवाँ साँसत
धौंस पहुँची हँसमुख

[औ] (ौ) । शब्दांत के स्वर के साथ भी प्रायः अर्धचंद्र का प्रयोग नहीं होता, केवल बिंदी से काम चलाया जाता है।

(कुछ वर्तमान कोशकार जिन्हें काफी नाम ईनाम मिला है, इस बिंदी तथा अर्धचंद्र के भेद को बिल्कुल मिटा देना चाहते हैं और सभी 'बिंदी युक्त' शब्दों का क्रम वर्णमाला के नैसर्गिक क्रम से बदलकर 'स्वरों' के प्रारंभ में कर देना चाहते हैं। इससे वर्णमाला — द्वादशाक्षरी के क्रम में तो व्यतिक्रम आता ही है एक और बात की आशंका होती है। इस प्रकार इन भेद को मिटाने से शायद कुछ दिन बाद हिंदी का उच्चरित रूप ही बदल जायगा क्योंकि अनुस्वार के दोनों — 'शुद्ध' तथा 'विकृत' — रूप मिलकर केवल एक रूप रह जायगा, और सबका उच्चारण एक जैसा हो जायगा। विशेषकर हिंदी को अन्य भाषाभाषी सीखकर अनुस्वार के दोनों रूपों का भेद कठिनाई से कर पाएँगे क्योंकि उन्हें तो अधिकतर कोश का ही सहारा लेना होगा। इस प्रकार कुछ दिन बाद हिंदी उच्चारण में शांत क्रांति हो चुकी होगी और उसका श्रेय बहुत कुछ इन कोशकार महानुभावों की इस स्वेच्छा, अथवा मनमानी (आर्बिट्रेरी) लाघव विधि (शार्टकट मेथड) को होगा जो हिंदी को सरल करने के बहाने अर्धचंद्र तथा वर्णक्रम के श्रम से बचना चाहते हैं।)

१. पंजाबी कश्मीरी क्षेत्र के निवासी अपनी हिंदी में 'शुद्ध' अनुस्वार के स्थान पर (न्) जैसी ध्वनि का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार वे लोग हँस और हंस में या पंच और पँच में भेद नहीं करते। वे लोग पाँच को [पाञ्च्] तथा खींच को [खीञ्च] कहते हैं। हिंदी में प्रायः 'शुद्ध' अनुस्वार, [ँ], के स्थान पर 'विकृत' अनुस्वार [ं], रख देने से शब्द के अर्थ में अंतर आ जाता है, जैसे — हँस और हंस, पँच (मेल) और पंच। पर कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें 'शुद्ध' अथवा 'विकृत', किसी भी, अनुस्वार का प्रयोग हो अर्थ नहीं बदलता; जैसे — अँधेरी और अंधेरी; जँगली और जंगली।

३.३ ऊपर २.१ में वर्णित अनुस्वार को 'विकृत' अनुस्वार माना जा सकता है।

४. जब यह अनुस्वार वर्गों के तथा स्वरों के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण[४] के पूर्व आता है तो उसका उच्चारण भिन्न भिन्न रूपों में होता है—कभी 'शुद्ध' रूप में, कभी 'विकृत' रूप में।

उदाहरण:– संयम संरक्षण संलग्न परिसंवाद
दंश[५] पंसारी[५] उपसंहार

प्रस्तुत लेख में वर्गाक्षरों तथा स्वरों के अतिरिक्त वर्णों के पूर्व आए अनुस्वार तथा अनुनासिकों के विभिन्न उच्चारणों की चर्चा है।

५.१ जैसा ऊपर १ में आ चुका है अनुनासिक वर्ण पाँच हैं। इनके उच्चारण में नासिका के साथ मुँह के किसी भाग का भी प्रयोग होता है।

नीचे बनी तालिका से इनके उच्चारणस्थान स्पष्ट हो जाएँगे :

अनुनासिक वर्ण	उच्चारणस्थान
ङ्	नासिका+कंठ६
ञ्	नासिका+तालु७
ण	नासिका+मूर्धा८

४. ये वर्ण हैं :— य् र् ल् व् श् ष् स् ह
५. हिंदी में एक या दो संस्कृत से लिए गए शब्दों, जैसे: दंष्ट्र, को छोड़कर [ष्] के पूर्व अनुस्वार का उदाहरण नहीं मिलता।
६. कंठ [क्] वर्ग का उच्चारण-स्थान है, किंतु [ङ्] के उच्चारण में जीभ के पीछे के भाग का स्पर्श तालु के पिछले भाग से [क्], [ख्], [ग्], [घ्] की अपेक्षा कुछ अधिक देर तक होता है और [ङ्] का स्पर्शस्थान बाकी चार वर्णों की अपेक्षा परचतर (बैक) भी है।
७. तालु [च्] वर्ग का उच्चारणस्थान है किंतु [ञ्] के उच्चारण में जीभ का स्पर्श (या घर्षण) वर्ग के बाकी वर्णों की अपेक्षा कुछ अधिक देर तक रहता है और [च्], [छ्], [ज्], [झ्] के उच्चारण में जीभ की नोक का स्पर्श (या घर्षण) तालु से होता है, जबकि [ञ्] के उच्चारण में जीभ की नोक के पीछे (अंदर) के भाग का।
८. मूर्धा (ट्) वर्ग का उच्चारणस्थान है। इस वर्ग के वर्णों के उच्चारण में जीभ गोलाई लेकर पीछे ऊपर को मुड़ जाती है और फिर आगे को

न्	नासिका+दंतमूल[९]
म्	नासिका+ओष्ठ[१०]

५.२ इनमें [ङ्], [न्] तथा [म्] के उच्चारण में तो साधारणतया अंतर स्पष्ट हो जाता है किंतु [ञ्] तथा [न्] के उच्चारण में नहीं होता। [ञ्] तथा [न्] के उच्चारणस्थान अवश्य भिन्न हैं किंतु सुनने में अधिकतर इनमें अंतर स्पष्ट नहीं होता और दोनों का प्रभाव (इफेक्ट) एक सा — [न्] जैसा—प्रतीत होता है।

इसी प्रकार [ण्] तथा [न्] का उच्चारण भी अधिकतर एक—सा लगता है हालाँकि [ण्] के उच्चारण में जीभ ऊपर पीछे को मुड़ती है जबकि [न्] के उच्चारण में नहीं मुड़ती और इन दोनों के उच्चारणस्थान भी अलग-अलग हैं।"

[नीचे ११ (ख).२ देखें]

६ सभी अनुनासिक हिंदी में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त नहीं होते। [न्] तथा [म्] का प्रयोग सभी स्थितियों (पोजीशन) में—आरंभ, मध्य, अंत[१२],

झटके से आ जाती है। [ण्] के उच्चारण में वर्ग के अन्य वर्णों की अपेक्षा जीभ कुछ अधिक मुड़ती है।

९ [त्] वर्ग का उच्चारणस्थान दाँत माने जाते हैं किंतु अब इस वर्ग के वर्णों का उच्चारण दंतमूल से होता है। [त्], [थ्], [द्], [ध्] का उच्चारण जीभ की नोक तथा दंतमूल के स्पर्श से होता है, किंतु [न्] के उच्चारण में जीभ की नोक के पीछे (अंदर) के भाग का स्पर्श दंतमूल के कुछ पीछे के भाग से होता है।

१०. [प्] वर्ग के वर्णों का उच्चारण ओठों से होता है। [म्] के उच्चारण में [प्]-वर्ग के अन्य वर्णों की अपेक्षा ओठों का स्पर्श कुछ अधिक स्थायी होता है।

११. वैसे [न्] और [ण्] को अलग (फोनीम) माना जाता है। उसी शब्द में [न्] के स्थान पर [ण्] रख देने से शब्द का अर्थ बदल जाता है, हालाँकि इस प्रकार के शब्दयुग्म कम ही हैं।

उदाहरण:– बेना बेणा पन पण

१२. हिंदी में [अ]–से अंत होनेवाले शब्दों में यह स्वर निहित माना जाता है, किंतु उच्चारण में अधिकतर इसका लोप हो जाता है और अंतिम वर्ण का उच्चारण व्यंजन की भाँति होता है :

११—किसी स्वर के साथ अथवा बिना स्वर के भी, होता है।

[ण] का प्रयोग शब्द के आरंभ में नहीं होता, किंतु मध्य या अंत में होता है।

अन्य दोनों अनुनासिकों—[ङ्] तथा [ञ्] का प्रयोग शब्द के केवल मध्य[१] मे होता है, वह भी किसी अन्य व्यंजन क साथ।

७.१ जैसा ऊपर आ चुका है, देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा में इन पाँचों अनुनासिकों का एक चिह्न [ं], है। यदि यह चिह्न वर्गाक्षरों के पूर्व आता है तो इसके उच्चारण में कठिनाई नहीं होती।

[ऊपर २ देखें]

७.२ और जब शुद्ध' अनुनासिक ध्वनि या चिह्न किसी स्वर के साथ आता है तब भी उच्चारण में कठिनाई नहीं होती।

[ऊपर ३ २ तथा नीचे .२, ३ देखें]

७ ३ (१) किंतु जब अनुस्वार[१] स्वर्गों के अतिरिक्त उदितेतर वर्णों के पूर्व आता है तब उसका कोई एक उच्चारण हिंदी में प्रचलित नहीं है और उसका उच्चारण भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं।

जैसा ऊपर—४ में—आ चुका है, परन्तु लेख मे इन उच्चारणों के विषय में भी चर्चा है।

उदाहरण—चूरन → [चूरन्]
परम → [परम्]
चरण → [चरण्]

(प्रायः शब्दों के बीच में [अ]-रहित व्यंजनों मे भी बोलने में [अ] का लोप हो जाता है।)

१३. हिंदी में विदेशी शब्दों को लिखते बोलते समय प्रारंभ या अंत मे भी ये अनुनासिक प्रयोग में आते हैं।

उदाहरण—ङ्रूमा उणिणनञा

१४. जब अनुनासिक अपने वास्तविक (या निर्धारित) रूप में लिखा जाता है तब यह कठिनाई या समस्या उपस्थित नहीं होती

[ऊपर ८ (य). २, ६ (र). २, १० (ल). २, ११ (व). २, १२ श) २ १४ (स). २ तथा १५ (ह). २ देखें।]

७.३ (२) ये वर्ण और इनके उच्चारणस्थान नीचे तालिका में दिए हैं :

वर्ण	उच्चारणस्थान
ह्	कंठ
य् श्	तालु[१५]
र् ष्	मूर्धा[१६]
ल् स्	दंतमूल[१७]
व्	ओष्ठ अथवा दंत+ओष्ठ[१८, १९]

१५. [य्] और [श्] दोनों का उच्चारणस्थान तालु है, किंतु [य्] का उच्चारण- [श्] से अग्र (फारवर्ड) है और [य्] के उच्चारण में जीभ की नोक काम में नहीं आती, उसका उच्चारण जीभ की नोक के कुछ पीछे के भाग की सहायता से होता है जबकि [श्] का उच्चारण जीभ की नोक की सहायता से होता है।

१६. [र्] तथा [ष्] दोनों मूर्धन्य ध्वनियाँ हैं, किंतु [र्] के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर मूर्धा से एक से अधिक बार टकराती है और जीभ पीछे ऊपर इतनी नहीं मुड़ती जितनी वह [ष्] के उच्चारण में मुड़ती है। [ष्] के उच्चारण में जीभ मूर्धा से बार बार टकराती भी नहीं।

१७. [ल्] तथा [स्] दोनों का उच्चारणस्थान दंतमूल है, किंतु [स्] की अपेक्षा [ल्] अग्र (फारवर्ड) ध्वनि है। [ल्] का उच्चारण जीभ की नोक की सहायता से होता है जबकि [स्] के उच्चारण में जीभ की नोक काम में नहीं आती बल्कि जीभ की नोक के पीछे का भाग आता है।

१८,१९. हिंदी में [व्] के दो उच्चारण हैं: पहला ओष्ठ्य, जिसमें दोनों ओठों में गोलाई लाकर [व्] का उच्चारण किया जाता है; दूसरा दंतौष्ठ्य, जिनमें ऊपर के दाँत नीचे के ओठ को छूकर हट जाते हैं।

व्यंजन के बादवाले [व्] का उच्चारण ओष्ठ्य होता है।

उदाहरण—वचन सँवारना वास्तव

किंतु कुछ हिंदीभाषी (विशेषकर जिनकी हिंदी पर उर्दू का प्रभाव है), तथा अन्य भाषाभाषी (विशेषकर पंजाबी-कश्मीरी), हिंदी बोलते समय [व] के दूसरे (दंतौष्ठ्य) रूप का उच्चारण नहीं कर पाते और [व] को सब स्थितियों में पहले (ओष्ठ्य) रूप की भाँति बोलते हैं।

८ (य) १ (१) [य्] के पूर्व जिन हिंदी शब्दों मे अनुस्वार आता है वे अधिकतर [स] से आरंभ होते हैं।

उदाहरण—संयत संयम संयंत्र संयान
संयुक्त संयोग संयोजक

८ (य). १ (२) ऐसे शब्दों मे अनुस्वार का उच्चारण 'शुद्ध' रूप में होता है और उसके बाद छोटी सी (शार्ट) [इ] जैसी स्वरध्वनि का आरोप (इंटरपोजीशन) होता है, और [इ] के बाद [य्] का घर्षण (फ्रिक्शन) साधारण [य्] की अपेक्षा कुछ अधिक होता है।

उदाहरण:—संयम →[सँइयम्]
संयोग [सँइयोग्]

८ (य) २ (१) बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनमें [य्] के पूर्व अनुनासिक अपने वास्तविक, या निर्धारित रूप में लिखा बोला जाता है और जिनमें अनुस्वार का प्रयोग नहीं होता।

उदाहरण:—अरण्य गण्यमान पण्य
न्याय न्यास अन्याय उपन्यास विन्यास
संन्यास[20] अन्य जघन्य वन्य अभिमन्यु
उपमन्यु कन्या म्याऊँ म्योर सम्यक् साम्यवाद
काम्य ग्राम्या तारतम्य साम्य सुरम्य

६ (य). १ (२) हिंदी मे प्रचलित कुछ विदेशी शब्दो में कभी कभी [य्] के पूर्व [न्] को अनुस्वार के रूप मे लिख दिया जाता **है—जैसे, सान्यो** के स्थान पर **सांयो**[21]।

६ (र) १ (१) [र] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द **हिंदी में गिने चुने हैं और** वे भी अधिकतर [स] से प्रारंभ होते हैं।

२०. इस शब्द मे 'विवृत' अनुस्वार का उच्चारण, नियमानुसार, [न्] होता है।

२१. किंतु कदाचित् ऐसे शब्दों को अनुस्वार के साथ न लिखकर [न्] के साथ ही लिखना अधिक सरल होगा—अन्यथा **सान्यो** का उच्चारण [सँइयो] भी संभव हो जायगा। (अगर जापानी उच्चारण बादवाला ही हो तो अनुस्वार से ही लिखना उचित होगा।)

उदाहरण:—संरक्षा संरक्षक

६ (र). १ (२) ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण अधिकतर [न्]—जैसा होता है।

उदाहरण:—संरक्षा→[सन्रक्षा]

६ (र), १ (३) कुछ लोग ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण उसके 'शुद्ध' रूप में करते हैं और आगेवाले [र्] को दुहरा (डबल) कर देते हैं।

उदाहरण:—संरक्षा→[सँर्रक्षा]

६ (र). १ (४) किंतु ऐसे शब्दों के उच्चारण की प्रथमविधि (ऊपर ६ (र). १ (२) में वर्णित) ही अधिक प्रचलित है।

६. (र). २ कुछ शब्दों में [र्] के पूर्व अनुनासिक [म्] अपने वास्तविक (या निर्धारित) रूप में लिखा बोला जाता है; इनमें अनुस्वार का प्रयोग नहीं होता।

उदाहरण:— धूम्रपान आम्र उम्र

प्रायः [ऋ] का उच्चारण हिंदी में [रि]—जैसा होता है। इस प्रकार—

मृतक→[म्रितक]
अमृत→[अम्रित]

१० (ल). १ (१) [ल्] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द भी हिंदी में गिने चुने मिलते हैं और वे भी अधिकतर [स] से आरंभ होते हैं।

उदाहरण:—संलग्न संलाप

१० (ल). १ (२) ऐसे शब्दों में भी अनुस्वार का उच्चारण अधिकतर [न्] जैसा होता है।

संलग्न→[सन्लग्न्]
संलाप→[सन्लाप्]

१० (ल). १ (३) कुछ लोग ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण उसके 'शुद्ध' रूप में करते हैं और आगेवाले [ल्] को दुहरा (डबुल) देते हैं।

उदाहरण:—संलग्न→[सँल्लग्न्]

१० (ल). १ (४) किंतु ऐसे शब्दों के उच्चारण की प्रथम विधि (ऊपर १० (ल) १ (२) में वर्णित ही अधिक प्रचलित है।

१० (ल). २ [ल] के पूर्व अनुनासिक [म्] अनुस्वार द्वारा निर्देशित न होकर अपने अपने वास्तविक, या निर्धारित, रूप में ही लिखा बोला जाता है।

उदाहरणः—म्लान म्लेच्छ अम्लीय अम्ल उच्चारण की शीघ्रता के कारण गमला→[गम्ला]

११ (व). (१) (१) [व्] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द हिंदी में थोड़े-से हैं और वे अधिकतर [स] से आरंभ होते हैं।

उदाहरणः—संवहन संवत् संवर्धन संवाहन संवाद संविधान संवेग संवेदना और भी, स्वयंवर

११ (व). १ (२) ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण [म्] जैसा होता है (और [व्] का ओष्ठ्य [व्]-जैसा)।

उदाहरणः—

संवत्→[सम्वत्]

स्वयंवर→[स्वयम्वर]

११ (व) १ (३) कण्व (ऋषि का नाम) तथा आत्विक—ये दोनों शब्द हिंदी में अनुस्वारयुक्त नहीं लिखे जाते और इनमें [ण्] का उच्चारण भी [ण]-जैसा ही होता है।

इसी प्रकार तन्वंगी में [व] के पूर्व का [न्] अनुस्वार द्वारा नहीं लिखा जाता वरन् [न्] जैसा ही लिखा बोला जाता है। उच्चारण मे शीघ्रता के कारण सनवाल, [सन्वाल्]—जैसा बोला जाता है।

१२ (श). १ (१) [श्] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द भी हिंदी में अधिक नहीं हैं।

उदाहरणः—वंशावली संशय संशोधन अंश दंश सारांश

१२ (श). १ (२) ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण [ञ्] (अथवा [न्]) के समान होता है, किंतु अधिकतर, दोनों रूपों में, [न्]-जैसा ही सुनाई पड़ता है, हालाँकि [श्] के पूर्व के अनुस्वार का उच्चारणस्थान तालु ही होता है, दंतमूल नहीं।

[ऊपर ५.१ देखें।]

उदाहरणः—संशय→[सञ्शय]

१२ (श). १ (३) कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग, अथवा उनके

११. जीभ मोड़कर (रेट्रफ्लक्स),

संपर्क में आनेवाले, ऐसे शब्दों मे (श्) के पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण [म्] जैसा करते हैं ।[२१] किंतु ऐसे लोग बहुत कम हैं।

[नीचे १४ (स). १ (३) देखें]

१२ (श). २ विदेशी भाषाओं से हिंदी मे आगत (उधार लिए गए) शब्दों में [श्] के पूर्व [न्] का उच्चारण ऊपर १२ (श). १ (१), (२) में वर्णित नियमों के अनुसार ही होता है। अतः लिखने में, कभी कभी उसका— [न्] का निर्देश अनुस्वार द्वारा किया जाता है और कभी कभी [न्] द्वारा— दोनों प्रथाएँ हिंदी में प्रचलित हैं।

उदाहरण—

पेंशन अथवा पेन्शन

शाहंशाह

१३ (ष) १ (१) [ष][२४] के पूर्व अनुस्वार का उदाहरण हिंदी में कठिनाई से मिलता है—केवल एक या दो संस्कृत से लिए गए (लोन) शब्दों को छोड़कर जैसे दंष्ट्र ।

[नीचे ४ देखें]

१३ (ष). १ (२) ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण [न्][२५] के समान सुनाई पड़ता है हालाँकि उसके उच्चारण में जीभ ऊपर पीछे मुड़ती है। (अतएव, वास्तव में उसे [ण्] ही मानना चाहिए) ।

उदाहरण—

दंष्ट्र –[दंष्ट्र्]

१४ (स). १ १) [स्] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द हिंदी में काफी मिलते हैं।

२३. कदाचित् इसका कारण यह है कि किसी योरोपीय विद्वान् ने संस्कृत शब्दों को किसी योरोपीय लिपि मे लिखते समय [श् / स्] के पूर्व के अनुस्वार का चिह्न [m] बनाया था। कालांतर में [m] के नीचे की बिंदी पुँछ गई और केवल [m] रह गया। इन भारतीय पढ़े लिखे विद्वानों ने बिना सोचे समझे उसे [म्] का योरोपीय रूप मान लिया। अन्यथा, [श्] तालव्य ध्वनि है और [स्] दंतमूलीय (अथवा दंत्य), उनके पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण ओष्ठ्य हो, यह संगत नहीं प्रतीत होता। कम से कम, अधिकांश हिंदीभाषी ऐसा नहीं बोलते।

२४. [ष्] का उच्चारण अधिकतर [श्]-जैसा किया जाता है। उस स्थिति में दंष्ट्र→[दन्श्ट्र्] ।

उदाहरण :—

संसद् संसार संस्कृत संस्कृति
मांसल पंसारी अवतंस
कंस हंस अभिशंसा प्रशंसा
और भी **स्वयंसिद्ध**[२५,२६] **स्वयंसेवक**[२५,२६]

१४ (स). १ (२) (१) ऐसे शब्दों में (ऊपर १४ (स). १ (१) के अंतिम दो उदाहरणों को छोड़कर) अनुस्वार का उच्चारण (न्) के समान होता है ।

उदाहरण —

कंस → [कन्स्]

१४ [स]. १ (२) (२) किंतु जिन समस्त (कंपाउंड) शब्दों में पूर्वपद **स्वयम्** (अथवा **स्वयं**) [२५,२६] होता है उनमें अनुस्वार का उच्चारण (म्) जैसा होता है ।

[ऊपर ११ (व) (१) में **स्वयंवर**[१५,१२] भी देखें ।

१४ (स). १ (३) कुछ अंग्रेजी पढे लिखे लोग, अथवा उसके संपर्क में आनेवाले – ऊपर १४ (स). १ (२) (१) में वर्णित स्थिति में भी अनुस्वार के लिये [न्] के स्थान पर [म्] का प्रयोग करते हैं। किंतु ऐसे लोग कम ही हैं ।

[ऊपर १२ (श). १ (३) देखें ।

१४ (स). २ हिंदी में आगत कुछ विदेशी शब्दों में भी [स्] के पूर्व कभी कभी अनुस्वार का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द अधिकतर ऐसे हैं जिनमें [स्] के पहले के [न्] को ही अनुस्वार के रूप में लिखा जाने लगा है। अतः ऐसे शब्दों में, स्वभावतया, अनुस्वार का उच्चारण [न्] के समान होता है ।

२५. इस प्रकार के शब्द समस्त शब्द (कंपाउंड वर्ड्‌स) हैं जिनका पहला पद (कंस्टीट्युएंट) **स्वयम्** है। हिंदी में इन शब्दों के विभिन्न पदों का उच्चारण उसी रूप में होता है जैसा तब होता जब ये विभिन्न पद अलग अलग पूर्ण शब्द होते ।

२६. उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों तथा भोजपुरी क्षेत्र के हिंदीभाषी **स्वयम्** का उच्चारण [स्वयङ] करते हैं। वे **स्वयंसेवक, स्वयंसिद्ध** आदि शब्दों में भी (ऊपर २१ के अनुसार) अनुस्वार का उच्चारण [ङ] जैसा करते हैं ।

उदाहरण—

चांस्लर (चान्स्लर)
पेंसिल (पेन्सिल)
मंसूख (मःसूख)
मंसूर (मन्सूर)
मंसूबा (मन्सूबा)

किंतु कुछ शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग न होकर (न्) अपने वास्तविक (या निर्धारित) रूप में लिखा जाता है ।

उदाहरण—

परकिन्स ट्रान्समिटर ट्रान्जिस्टर

शीघ्र उच्चारण के कारण तनसुखराय का उच्चारण [तन्सुखराय] जैसा होता है हालाँकि तनसुखराय में न निहित (इनहेरेंट) स्वर—[अ] के साथ ही लिखा जाता है ।

१५ (ह). १ (१) [ह] के पूर्व अनुस्वारवाले शब्द हिंदी में कम ही मिलते हैं, और जो मिलते हैं उनमें अधिकतर [ह्] के पूर्व अनुस्वारयुक्त [स] होता है ।

उदाहरण—

संहत (कौंसोलिडेटेड) उपसंहार
संहार संहिता सिंह

१५ (ह). १ (२) ऐसे शब्दों अनुस्वार का मे उच्चारण प्रायः 'शुद्ध' रूप में होता है और उसके तथा [ह्] के बीच छोटी सी स्वरध्वनि [अ] (अथवा [स]) का आरोप कर दिया जाता है ।

उदाहरण—

संहत → [संऽहत्]
सिंह → [सिँऽह्]*[२७]

१५ (ह). १ (३) कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग—अथवा उनके संपर्क में आनेवाले—ऐसे शब्दों में अनुस्वार का उच्चारण [म्] जैसा करते हैं । ऐसे लोग बहुत कम हैं ।

२७. [ह्] तथा [अ] दोनों कंठ्य ध्वनियाँ हैं, और [म्] ओष्ठ्य ध्वनि है । अतः, १५ (ह). १ (२) में वर्णित उच्चारणविधि अधिक संगत प्रतीत होती है ।

१५ (ह). १ (४) कुछ लोग ऐसे शब्दों में [ह्] का उच्चारण कुछ कुछ [घ्] जैसा करते हैं—विशेषकर सिंह[२८] शब्द में। फलतः वे लोग उसके पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण [ङ्] के समान करते हैं।

उदाहरण –

सिंह → [सिंङ्घ्]

१५ (ह). २ (१) [ह्] के पूर्व के अनुनासिक [म् तथा न्] का निर्देश, बहुत से शब्दों में, अनुस्वार द्वारा नहीं होता। इन अनुनासिकों को, इन शब्दों में अपने अपने वास्तविक (या निर्धारित) रूपों में लिखा बोला जाता है।

उदाहरण—

उन्हीं उन्होंने

कुम्हार तुम्हारा सम्हलना[२९] सम्हालना[२९]

तुम्हें

१५ (ह). २ (२) व्यंजनझुंडों [ह् न्][३०] तथा [ह् म्][३०] का उच्चारण क्रमशः [न्ह्] तथा [म्ह] होता है।

उदाहरण—

चिह्न → [चिन्ह]

ब्रह्मा → [ब्रम्हा]

सारांश (१) किसी अनुनासिक वर्ण के पूर्व वही या अन्य अनुनासिक वर्ण अपने वास्तविक (या निर्धारित) रूप में लिखा बोला जाता है।

(२) य्, र्, ल्, श्, स्, ह् के पूर्व कुछ अनुनासिक (विशेषकर म्, न् और कभी कभी, हिंदी में अन्य भाषाओं से आगत शब्दों में ण्, ङ् भी) अपना विशिष्ट उच्चारण कायम रखते हैं और अनुस्वार द्वारा निर्देशित न होकर अपने साधारण, प्रचलित रूप में ही लिखे जाते हैं।

२८. कुछ अपढ़ या उच्चारणश्रम से बचनेवाले आलसी लोग इस शब्द का उच्चारण [सिङ्ग] भी करते हैं।

२९. क्रमशः सँभलना तथा सँभालना के रूपांतर।

३०. इसी प्रकार अन्य [ह् व्यं] झुंडों का उच्चारण हिंदी में, विपर्यय के फलस्वरूप, [व्यं+ह] हो जाता है।

उदाहरणः—आह्लाद →[आल्हाद]

प्रह्लाद →[प्रल्हाद]

आह्वान →[आव्हान]

(१) (क) किसी स्वरध्वनि के साथ अनुस्वार का उच्चारण 'शुद्ध' रूप में होता है।

(१) (ख) किसी पंचवर्गी अक्षर के पूर्व अनुस्वार का उच्चारण 'विकृत' रूप में (और संबंधित वर्ग के पंचम वर्ण के समान) होता है।

(१) (ग) (१) अन्य वर्णों के पूर्व अनुस्वार का उच्चारण साथवाली (या समीपवर्ती) ध्वनि अथवा ध्वनियों से प्रभावित होता है। (नीचे बनी तालिका में इस कथन का स्पष्टीकरण है)।

अनुस्वार के पूर्व वर्ण का	अनुस्वार का उच्चारण	अनुस्वार का (अधिक प्रचलित) रूप	अनुस्वार का अन्य (कम प्रचलित) रूप	विशेष
१	२	३	४	५
य्	[ँइ]	'शुद्ध' पश्चवर्ती (फालोइंग) छोटे से सवर्ण स्वर से युक्त	×	(१) [य्] तथा [इ] सवर्ण ध्वनियाँ हैं : दोनों तालव्य हैं।
१	२	३	४	५
				(२) अधिकतर प्राप्य शब्द जिनमें [य्] के पूर्व अनुस्वार मिलता है [स] से प्रारंभ होते हैं।
र्	[न्]	'विकृत'	[ँ]-पश्चवर्ती आरोपित (इंट्रेसिव) [र्] के साथ	अधिकतर प्राप्य शब्द जिनमें [र्] के पूर्व अनुस्वार मिलता है [स] से आरंभ होते हैं। [न्] तथा [स्] दंतमूलीय हैं, तथा [र्]—शब्दगत तथा आरोपित—तालव्य। इस प्रकार प्रथम रूप में अनुस्वार का उच्चारण पूर्ववर्ती सवर्ण ध्वनि द्वारा तथा द्वितीय रूप में (आरोपित ध्वनि का उच्चारण) पश्चवर्ती ध्वनि द्वारा प्रभावित होता है।

स्	[न्]	'विकृत'	[ँ]-पश्चवर्ती आरोपित [ल्] के साथ	अधिकतर प्राप्य शब्द जिनमें [ल्] के पूर्व अनुस्वार मिलता है [स] से आरंभ होते हैं।
१	२	३	४	५
				[ल्], [न्] तथा [स्] दंतमूलीय हैं। इस प्रकार प्रथम रूप में अनुस्वार का उच्चारण पूर्ववर्ती तथा पश्चवर्ती सवर्ण ध्वनि द्वारा। प्रभावित होता है तथा द्वितीय रूप में पश्चवर्ती सवर्ण ध्वनि द्वारा।
व्	[म्]	'विकृत'	×	(१) [व्] तथा [म्] दोनों सवर्ण ध्वनियाँ— ओष्ठ्य— हैं। (व्यंजन के पश्चात् सदैव ओष्ठ्य [व्] ही आता है, दंतौष्ठ्य [व्] नहीं)। (२) अधिकतर प्राप्य शब्द जिनमें [व्] के पूर्व अनुस्वार मिलता है [स] से आरंभ होते हैं।
श्	[ञ्] [न्]	'विकृत'	[म्]	[श्] तथा [ञ्] सवर्ण-तालव्य-ध्वनियाँ हैं।
ष्	[ण्] [न्]	'विकृत'	×	[ष्] तथा [ण्] सवर्ण-मूर्धन्य-ध्वनियाँ हैं।

स्	[न्] अपवाद [स्वयम् स्-] शब्दों में [म्]	'विकृत'	[म्]	[स्] तथा [न्] सवर्ण —दंतमूलीय— हैं।
ह्	[ॅ] [ॅऽ]	'शुद्ध' पश्च-वर्ती छोटी सी सवर्ण स्वर-ध्वनि से युक्त	[म्]; कभी कभी [ङ्] भी अंतिम स्थिति में [ह्] के स्थान पर [घ्] होता है।	(१) [ह] तथा [अ] सवर्ण ध्वनियाँ हैं— दोनों कंठ्य हैं। (२) अधिकतर शब्द जिनमें [ह्] के पूर्व अनुस्वार मिलता है [स] से आरंभ होते हैं।
१	२	३	४	५

३ (ग) (२) श्, ष्, स्, के अतिरिक्त जिन अन्य पंचमेतर वर्णों (य्, र्, ल्, व्, ह्,) के पूर्व जिन शब्दों में अनुस्वार पाया जाता है वे अधिकतर [स] से आरंभ होते हैं और यह [स] किसी न किसी उपसर्ग का प्रथम वर्ण होता है।

*

पौराणिकी

[इस स्तंभ के अंतर्गत ऐतिहासिक महत्व की अप्रकाशित मूल सामग्री का प्रकाशन किया जाएगा। इस अंक में आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के कुछ पत्र सभासंग्रह से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी सामग्री इस स्तंभ के लिये आमंत्रित है।]

इन सभी पत्रों मे पत्रसंख्या द्विवेदी जी द्वारा अंकित है।

नागरीप्रचारिणी सभा, आगरा।

सं० १०७ — १३-१२-१९१२

सेवा में

विद्वद्वर श्रीमान् पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी

संपादक 'सरस्वती'

जुही-कानपुर,

महानुभाव,

मैं आप को सहर्ष सूचित करता हूं कि आप सभा की प्रबंधकारिणी समिति के अधिवेशन मे श्रीमान् पं० श्रीधर जी पाठक (प्रयाग) के प्रस्ताव, गोस्वामि ब्रजनाथ जी शर्मा (आगरा) के अनुमोदन और सर्व सम्मति से सभा के माननीय सभ्य बनाये जाना निश्चित होकर साधारण सभा की स्वीकृति से आप नागरीप्रचारिणी सभा, आगरा के माननीय सभ्य निर्वाचित किये गये हैं। आशा है कि आप इसको स्वीकार कर अपनी स्वीकृति भेज अनुगृहीत करेंगे।

श्रीमान् की जानकारी के लिये, इस पत्र के साथ सभा की नियमावली की भी एक प्रति भेजी जाती है।

भवदीय

चतुर्वेदी अयोध्याप्रसाद पाठक

बी० ए०, एल-एल० बी०

मंत्री

यह पत्र सभा के शीर्षमुद्रित कागज पर लिखा गया है। शीर्ष पर हिंदी विषयक कुछ पद्य भी मुद्रित हैं। पत्र पर द्विवेदी जी ने रोमनलिपि में 'रिप्लाईड १८।१२।१२ और इलेक्टेड प्रेसिडेंट आव द ऐनुअल मीटिंग ऐंड रिफ्यूज्ड १२।६।११' लिखा है।

पत्रशीर्ष पर मुद्रित पद्य—

हिंदी भारतवर्ष की भाषा सर्वप्रधान।
आरज कुल जातीय धन जीवन प्रान समान॥
निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।
करहु सकल विषयन विषैं निज भाषा उपयोग॥
निज भाषा में करहु तुम ममता को संचार।
भरहु ज्ञान विज्ञान लहि विविध तासु भंडार॥

[२]

२६५६

कुर्री सुदौली
६ अप्रैल—११

मान्यवर द्विवेदी जी,

कृपापत्र प्राप्त हुआ। पढ़कर बड़ा संतोष हुआ। मुझे पहले ही से यह विश्वास था कि आप मेरे प्रस्ताव स्वीकार कर अवश्यमेव उसमें सहायक बनेंगे। धन्यवाद है।

आपके 'internal suggestion, allusion इत्यादि वाली बात पढ़कर मुझे हँसी आ गई। कहते तो आप सच हैं। करनेवाले अर्थ का अनर्थ सहज ही कर सकते हैं। और उस दशा में शांतिप्रिय सज्जनों के चित्त यदि कुछ भयभीत रहें तो अचंभे की बात नहीं, स्वाभाविक ही है।

कृपाकर गुप्त जी को उस पद्य प्रबंध को बनाने में उचित सहायता दीजिए। वह मुझसे पूछा करते हैं कि उस कविता में किन किन बातों का सविशेष वर्णन किया जावे। मेरे आशय को आप भली भाँति समझ चुके हैं इसलिये मुझे आशा है कि आप इस विषय में उन्हें अच्छी तरह बतला सकते हैं। हाली का मुसद्दस मैंने उनके पास भेज दिया है। उसके देखने पर भी जो कमी रह जायगी उसकी पूर्ति आप ही कर सकेंगे। गुप्त जी ने मुझसे पूछा, यवन राजत्वकाल की कैसी चर्चा की जावे। यह सवाल जरा गौरतलब है। मैंने उनको लिखा है कि वह इस विषय में आपकी संमति लें। आप ऐसे अनुभवी लेखक ही इस विषय में उचित परामर्श दे सकते हैं। और मुझे आशा है, गुप्त जी को आप अपने सत्परामर्श से वंचित न रखेंगे,

आपका कृपाकांक्षी
रा० रामपालसिंह

यह पत्र राजचिह्नांकित कागज पर लिखा गया है। राजचिह्न में 'कुर्री सुदौली इस्टेट, रायबरेली राइटसनेस इज द पाथ आव विजडम' रोमन लिपि में अंकित है। द्विवेदी जी ने इसपर रोमन लिपि में 'रिप्लाइड १३।४।११' लिखा है।

[३]

२६५५

कुर्री सुदौली
जि० रायबरेली
३ मई, १६११ ई०

मान्यवर द्विवेदीजी,

आपके १४ अप्रैल के कृपापत्र के लिये अनेकानेक धन्यवाद। मुझे खेद है कि उसके उत्तर में विलंब हुआ।

प्रस्तावित कविता के विषय में आपने जो कुछ किया, खूब किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। उसके तय्यार होने पर और भी कमी बेशी की जा सकती है।

मुझे खेद है कि मेरी हँसी वाली बात का, आप कुछ और ही मतलब समझे। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि वह उपहास हँसी नहीं थी। दूसरी ओर की गलतफहमी का खियाल कर मुझे खेद हुआ। आप जानते ही होंगे कभी कभी विवशता की दशा में खिन्नता में हँसी आ जाती है। यह वही खेदसूचक मार्मिक हँसी थी। अनेक जगह आज रोने, दाँत कटवाने के स्थान में मुस्कुराना पड़ता है।

आपका कृपापात्र
रामपाल

यह पत्र राज्यचिह्नांकित कागज पर लिखा गया है। द्विवेदी जी ने इसपर रोमन लिपि में 'जो रिप्लाइड ४।५' लिखा है।

[४]

२६५३

कुर्री सुदौली
जि० रायबरेली
१ नवंबर

मान्यवर,

कृपापत्र के लिये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिये। आपका शरीर अच्छा नहीं रहता, यह जानकर और आपके पत्र में अनेक नैराश्यसूचक बातों को पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। सज्जनों को इस प्रकार क्लेशित देखकर कौन है जो इस संसार को असार न समझेगा। आपको पूर्णतयः सुखी

देखने के लिये, बहुत से आदमी आज देश में ऐसे निकलेंगे, जो अपनी जिंदगी का सबसे अच्छा हिस्सा आप पर निछावर कर दें। परंतु खेद इस बात का है कि ईश्वरी नियम ऐसे अदल बदल को अंगीकार नहीं करता। परमेश्वर आप पर अपनी कृपा करें, मैं सच्चे मन से यह प्रार्थना करता हूँ।

जरमनी के डाक्टर लुई कुहनी की जल चिकित्सा प्रणाली का हाल आप जानते होंगे। मुझे इसका अच्छा तजुरबा है। दरजनों आदमी मैंने इससे अच्छे किये हैं मैं खुद उसे बराबर करता हूँ। यदि आप भी उसे करें तो मुझे आशा है, अवश्य लाभ होगा। मैं उसके सब तरीकों से पूरी तौर पर वाकिफ हूँ और यदि आप उसे करना पसंद करें तो मैं खुद एक दिन के लिये आकर अपने हाथ से सब प्रबंध कर दूँगा और जरूरी बातें आपसे निवेदन कर दूँगा। यदि आप पसंद करें तो मुझे आज्ञा देकर बाधित कीजिये। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा यदि मेरे द्वारा आपकी कोई सेवा हो सके।

राजा साहब की राय है कि मैं Kamala's Letters को अनुवाद करूँ। और मैंने इरादा भी कर लिया। शीघ्र ही ग्रंथकार को आज्ञा के लिये लिखता हूँ। सहायता की आवश्यकता पड़ने पर आपको कष्ट दूँगा। हां। इस समय केवल इतना ठीक कर दीजिये कि हिंदी अनुवाद में ग्रंथ का नाम क्या रखूं। अंग्रेजी में उसका नाम है Kamala's Letters to her husband'

हिंदी में इसका अविकल अनुवाद रखने से तो कुछ रोचक न होगा। नाम ग्रंथ के अनुकूल हो और रोचक भी हो यह कृपया आप तजवीज कर दें। यह वही मदरास-वाली कमला है जिसे आप पढ चुके हैं। मुझे आशा है मेरे इस प्रकार बार बार तकलीफ देने के लिये आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपका कृपाकांक्षी
तिलकसिंह

पत्र सादे कागज पर है। द्विवेदी जी ने अँगरेजी में ऊपर 'रिव्वालाक ३।११।११' लिखा है।

[५]

२६५२

कुर्री सुदौली
११ नवम्बर

मान्यवर,

कृपापत्र मिला। मुझे यह जानकर संतोख हुआ कि आप लुई कूने की प्रणाली से लाभ उठा चुके हैं। अब विश्राम की आवश्यकता है तो विश्राम अवश्य कीजिये जिससे आपका स्वास्थ्य ठीक रहे वह कीजिये। जैसे हो सके, जैसे बने, हिंदी को थोड़े दिन अभी सनाथ बनाये रहिये, बस यही प्रार्थना है। मैं या मेरे राजा साहब किसी प्रकार आपके काम आ सके तो निसंकोच भाव से आज्ञा कीजिये, मानो हम लोगों को इससे आप अनुग्रहीत करेंगे।

कमला के रचयिता को अनुवाद विषयक आज्ञा प्रदान करने को लिखा है। उनकी स्वीकृती आने पर कार्य आरंभ करूँगा, परंतु इस दरबार के झगड़े की बातों से अब जनवरी तक शायद कुछ न कर सकूँगा चाहे उसकी स्वीकृती अभी ही प्राप्त हो जावे। चतुर्थांश हो चुकने पर आपकी सेवा में भेजूँगा।

सदैव दया भाव बनाये रखिये और मेरे योग्य सेवा लिखते रहियें।

आपका कृपाकांक्षी
तिलकसिंह

पत्र सादे कागज पर लिखा गया है। द्विवेदी जी ने इसपर अँगरेजी में 'रिप्लाइड १५।११।११' लिखा है।

[६]

२६५१

४ सितम्बर

प्रियवर द्विवेदी जी,

मेम्बरी की बधाई के लिये आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। देहाती होकर मैं देहातियों को भला कैसे भूल सक्ता हूँ। यदि भूलूँ तो आप याद दिलाइयेगा।

हितैषी
रामपाल

यह पत्र राज्यचिह्नांकित कागज पर लिखा गया है। राज्यचिह्न में 'राजकुमारी सुदौली-डिस्ट्रिक्ट रायबरेली तथा राइटिअसनेस इज द पाथ विजडम' अँगरेजी में अंकित है। द्विवेदी जी ने इसपर अँगरेजी में 'रिप्लाइड ६।९।१४' लिखा है।

[७]

२६४९

कुर्री सुदौली

९-५-१५

प्रिय द्विवेदी जी,

राजा साहेब शिवगढ़ ने एक पुस्तक बनवाई है उन्होंने उसी के संबंध में मुझसे अपनी इच्छा प्रकट की है कि आपके द्वारा वह संशोधित और परिमार्जित हो जाय।

यदि उनका आदमी वह पुस्तक लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हो तो क्या आपको इतना अवकाश मिल सकेगा कि आप उसे संशोधित कर दें ?

पत्रोत्तर से शीघ्र अनुग्रहीत कीजिए,

भवदीय :—

आनरेबिल राजा रामपाल

सी० आई० ई०

यह पत्र सादे कागज पर किसी लिपिक द्वारा लिखा गया है। हस्ताक्षर राजा साहब का है। इसपर द्विवेदी जी ने उत्तर के लिये यह टिप्पणी लिखी है :—एक हफ्ते से अधिक का काम न हो तो डाक से भिजा दीजिए। उन्होंने, अँगरेजी में 'रिप्लाइड ११२।५।१५' भी लिखा है।

[८]

२६५८

प्रयाग

२०।१।१३

महाशय

आपकी तीव्र विभीषिका मुझे होली तक रुकने का अवकाश न दे सकी। इससे मैंने कुछ लिख डाला है। मैंने 'धार्मिक विषय' जो लिखा (अपने गत पत्र में) सो मेरी भूल थी। मेरा अभ्यास दर्शन शास्त्र में ही यत्किंचित रहा। इससे दार्शनिक ही विषयों पर लिखना मुझे अनुकूल होता है। इस लेख को पढ़कर आप लिखिये कि यह आपकी Policy के अनुकूल है वा नहीं। यदि न हो तो लौटा दीजिये। नहीं तो यथावकाश 'सरस्वती' देवी के पैरों पर अर्पित कर दीजिये।

इस पत्र पर द्विवेदी जी ने अँगरेजी 'रिवाइज्ड २३।१।१३' लिखा है।

लेख देखने से आपको मालूम हो जायगा कि मैं हिंदी में लिखने में संकुचित क्यों होता हूँ। मेरी भाषा रोचक नहीं होती—ऐसी अनुमति एक महान हिंदी वेत्ता की है। और अशुद्धियाँ भी बहुत होती हैं—इसे मैं स्वयं जानता हूँ। इन्हीं सब कारणों से इधर उधर कभी कुछ लिख डालता हूँ परंतु 'सरस्वती' ऐसी प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका को कलुषित करने का साहस नहीं करता। परंतु आपकी आज्ञा इतनी जोर से आई कि सब बातों को भूलकर मैं लिखकर भेजता हूँ। आप इतनी कृपा करें की अपनी लेखनी द्वारा अशुद्धियों का शोधन कर दीजिये। नहीं तो मेरी अप्रतिष्ठा तो होगी साथ साथ सरस्वती की कीर्ति पर भी धब्बा लग जायगा।

आप मेरे उपर कृपा रखते हैं और इससे मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा का उपाय अवश्य करेंगे इसी विश्वास पर लेख भेजता हूँ।

यह लेख आपको पसंद होगा तब इसके आगे के अंशों को लिखूँगा।

कृपाकाङ्क्षी
गंगानाथ झा

[६]

२६५७

प्रयाग
२४।१।१३

यह पत्र सरकारी पोस्ट कार्ड पर लिखा गया है।

महाशय

परिमार्जित कापी के साथ यदि अपरिमार्जित कापी भी भेज दें तो किस ढंग का परिमार्जन अपेक्षित होता है सो भी मुझे ज्ञान होता जायगा। जिससे कुछ सुधर जाने की सम्भावना होगी।

कृपाकाङ्क्षी
गंगानाथ झा

कार्ड का पता

Pandit
Mahavir Prasad Dwivedi
Juhi
Cawnpore

[१०]

२६७२

309 Fifth Avenue
Pittsburgh Pa U. S. A.
1st October 1911

प्रिय पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को जगन्नाथ खन्ना का प्रणाम पहुँचे—आगे इसके साथ के लेख को सरस्वती पत्रिका के लिये भेज रहा हूँ आशा है कि आप इसे अपने अमूल्य पत्रिका में स्थान देकर अनुगृहीत करिये गा—इस लेख से आप को पता लग जावेगा कि मैं इस अमेरिका देश में विद्याध्ययन करने को अभी प्रयाग से आ रहा हूँ और इस University of Pittsburgh में Electrical Engineering सीखता हूँ। दो साल में डिगरी मिल जावेगी—अमेरिका के विषय में आप की पत्रिका के लिये सब प्रकार के लेख लिख सकता हूँ—जिस विषय पर आप कहेंगे—आशा है इस मेरी इच्छा को आप पूरी करेंगे और उत्तर इसका शीघ्र देंगे—सरस्वती भी आगामी मास से कृपा कर भेज दिया करिये इससे हिंदी संसार से प्रथक न हों—

आपका देशबंधु
जगन्नाथ खन्ना

पत्र सादे कागज पर है। द्विवेदी जी ने इस पर अँगरेजी में 'रिव्याइड १०।११।११' लिखा है।

[११]

२६६१

309 Oakland Avenue
Pittsburgh Pa. U. S. A.
Feb. 4, 1912

श्री मान पंडित जी को प्रणाम्

आपका १ जनवरी का लिखा पत्र पाकर चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ—हृदय से आपको आपकी नये दिन की बधाई के लिये धन्यवाद देता हूँ—ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको कुशलपूर्वक रक्खे जिससे आप बहुत समय तक मातृ देश और मातृ भाषा की सेवा कर सकें—

सरस्वती की उन्नति से मुझे सदा खुशी होगी—अल्प शक्ति के साथ यह दास भी सेवा करने के लिये तैयार है—हिंदी की उन्नति मेरा धर्म है —

बड़ी कृपा होगी यदि इसी प्रकार मुझे अवसर देते रहिये—मुझे सलाह की जरूरत है—मेरी गलतियों को बतलाते और ठीक करते रहिये—

यह लेख मेरे चित्त का उद्वेग है—बड़ी कृपा होगी यदि इसी प्रकार ज्यों का त्यों अलबत्ता शुद्ध कर छपा दीजिये।

समय मिलने पर हमेशा भिन्न मनोरंजक विषयों पर वार्ता करता रहूँगा—

अब रात अधिक हो गई है, डेढ़ बज गये हैं—प्रणाम

आपका
जगन्नाथ खन्ना

पत्र सादे कागज पर है। द्विवेदी जी ने इस पर अँगरेजी में 'रिप्लाइड १२।२।१२' लिखा है।

[१२]

२६६५

Prem Mahavidyalaya
Brindaban, Muttra
26th Jan. 1914

श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को नमस्कार

इसके साथ मैं आज आपको एक लेख नियाग्रा झरना के विषय में सरस्वती की अगली संख्या के लिये भेज रहा हूं—कृपा कर प्राप्त स्वीकार भेजियेगा।

स्वदेश को लौटे मुझे कई महिने हो गये परंतु मेरा असबाब नहीं आया था और कुछ इधर उधर मित्र बंधुओं में मिलने मिलाने में समय चला गया, इस कारण मैं आप को कोई लेख नहीं भेज सका—इधर आपने सरस्वती भेजना बंद कर दिया,

मैं अब आप को बराबर बड़े रोचक लेख लिख कर भेजा करूँगा क्योंकि अपनी यात्रा में मैंने अपने बहुत लेख के सामान इकट्ठा किये हैं।

पत्र सादे कागज पर है। द्विवेदी जी ने इसपर अँगरेजी में 'रिप्लाइड' लिखा है।

परंतु अब मैं अपने लेखों का मूल्य लिया करूंगा, क्योंकि मेरा समय यह बहुत लेता है- इसलिये यदि आप इस लेख जिसे मैं भेज रहा हूँ उसका मूल्य दस रूपये देना स्वीकार करें तब छपवाना, नहीं तो कृपा कर लौटा देना।

मैंने लौटती बार अमेरिका की खूब यात्रा की है और यूरोप के अनेक देशों में जैसे कि इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्ज़र लैंड, इटली इत्यादि २ में बहुत दिनों तक भ्रमण की है - मेरा विचार है कि धीरे धीरे सरस्वती में अपनी यात्रा का वृतांत दूं—यदि आप मेरे लेखों का मूल्य यथेष्ठ देंगे तो तो मैं अवश्य ऐसा करूंगा—

आप का मित्र
जगन्नाथ खन्ना
B. Sc. (Pittsburgh)
Professor
Electrical Engineering
Prem Mahavidyalaya
Brindaban

विमर्श

'गोविंदहुलास नाटक' का रचयिता

प्रभुदयाल मीतल

•

'गोविंदहुलास नाटक' ब्रजभाषा हिंदी के अब तक प्राप्त नाटकों में सर्वाधिक प्राचीन और सर्वांगपूर्ण बतलाया गया है। लगभग ढाई सौ वर्ष तक अंधकार के गर्भ में रहने और पूरे बारह महीने तक मुद्रण की प्रसववेदना सहनेवाले इस ग्रंथ को प्रकट करने का श्रेय कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह जी को है। इसकी एकमात्र उपलब्ध हस्तलिखित प्रति गौड़ीय संप्रदाय के शोधक विद्वान् बाबा कृष्णदास जी के संग्रह में थी। वहीं से प्राप्त कर उक्त कुँवर साहब ने इसे संपादित रूप में बृहत् प्रस्तावना के साथ प्रकाशित किया है।

इस नाटक की मूल पांडुलिपि में रचनाकार या रचनाकाल का कहीं पर उल्लेख नहीं है। यहाँ तक कि इसके लिपिक के नाम या लिपिकाल का उल्लेख भी इसमे नहीं हुआ है। इसलिये संपादक महोदय को इस ग्रंथ की प्रस्तावना में 'रचनाकार और रचनाकाल' के निर्णयार्थ पर्याप्त उहापोह करना पड़ा है। फिर भी इसके संबंध में वे कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं कर सके हैं।

इस ग्रंथ के रचयिता के रूप में नायक, जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी के नामों की संभावना पर विचार करने के उपरात कुँवर चंद्रप्रकाश जी ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है। 'अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर रूपगोस्वामी अथवा जीवगोस्वामी ही इस नाटक के प्रणेता कहे जा सकते हैं।'

इसके रचनाकाल का कोई निश्चित संवत् बतलाने के स्थान पर उन्होने लिखा है 'यह नाटक ढाई सौ वर्ष से भी अधिक पुराना है।' उक्त मत किसी लिखित प्रमाण पर आधारित नहीं है, बल्कि इसके संभावित रचयिताओं के उपस्थितिकाल के आधार पर ही इसका अनुमान किया गया है।

गोविंदहुलास नाटक मौलिक कृति नहीं है। इसकी रचना चैतन्य संप्रदाय के प्रकांड विद्वान् श्री रूपगोस्वामी के प्रसिद्ध नाटक 'विदग्ध माधव' के आधार पर कुछ साधारण परिवर्तन के साथ की गई है। चूँकि इसमें उक्त आधारग्रंथ का भी नामोल्लेख नहीं हुआ है, अतः कुँवर साहब ने समझा है, कदाचित् रूपगोस्वामी

जी ने अपने विख्यात संस्कृत नाटक के आधार पर स्वयं ही उसे व्रजभाषा में भी लिख दिया होगा। रूपगोस्वामी को इस ग्रंथ का प्रणेता अनुमानित करने का यहां प्रधान कारण बतलाया गया है। नायक और जीवगोस्वामी में से किसी के रचनाकार होने की संभावना का आधार इस नाटक के आरंभ में आए हुए 'नाइक' और 'जीउ' दो श्लिष्ट शब्द हैं।

इस नाटक के रचनाकार और रचनाकाल के संबंध में विचार करते हुए कुँवर साहब ने सर्वप्रथम इसकी मूल पांडुलिपि पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने इसकी वर्तनी विषयक तथाकथित कुछ विशेषताओं के कारण आरंभ में ही यह पूर्वाग्रह बना लिया है कि इस नाटक का लेखक कोई अहिंदीभाषी व्यक्ति है। उसके बाद उन्होंने जीउ' और 'नाइक' दो श्लिष्ट शब्दों के आधार पर जीव और नायक नामधारी कवियों की खोज का प्रयास किया है, किंतु उनका ध्यान पूर्वग्रह के कारण नायक पर से हटकर पहिले जीव गोस्वामी पर और फिर रूपगोस्वामी पर आकर जम गया है।

नायक पर से कुँवर साहब का ध्यान हटने का कारण एक यह भी था कि उन्हें उक्त कवि के संबंध में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिल सका, जिससे उसे इस प्रौढ़ नाटक का प्रणेता बतलाया जा सकता। मिश्रबंधु विनोद में जिस नायक कवि का उल्लेख हुआ है, उसे निम्न श्रेणी का कवि बतलाया गया है। इसलिये कुँवर साहब ने इस ग्रंथ के प्रणेता के रूप में नायक को अस्वीकार करते हुए लिखा है—'गोविंदहुलास के कवि निम्न श्रेणी के कवि नहीं हैं, इसलिये उन नायक के साथ इनका साम्य साधना संभव नहीं प्रतीत होता।' फिर जीव के संबंध में विचार करते हुए उन्होंने नायक को जीव के नाम का ही अंग समझ लिया है, यद्यपि इसके लिये वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बतला सके हैं। उन्होंने लिखा है 'यह भी संभव प्रतीत होता है कि 'नायक' शब्द जीव के नाम का अंग हो और इस कृति के लेखक का पूरा नाम 'नायक जीव' या 'जीवनायक' हो।'

इस प्रकार कुँवर साहब ने इस ग्रंथ के प्रणेता के रूप में नायक की संभावना को एकदम समाप्त कर जीवगोस्वामी की संभावना पर बल देना चाहा है। किंतु इसके संबंध में एक कठिनाई यह थी कि आज तक किसी ने भी जीव गोस्वामी को हिंदी लेखकों में नहीं बतलाया है। उनकी कोई भी हिंदी रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। ऐसी दशा में उन्हें गोविंदहुलास जैसी प्रौढ़ हिंदी रचना का प्रणेता कैसे कहा जा सकता था!

उक्त कठिनाई उन्हें रूपगोस्वामी को इस ग्रंथ का प्रणेता बतलाने में नहीं जान पड़ी। इस संबंध में कुँवर साहब ने आत्मसंतोष प्रकट करते हुए लिखा है: 'जीवगोस्वामी के विषय में भले ही अभी यह कहा जा सके कि उनकी हिंदी रचना

नहीं मिलती, पर सनातन और रूप ने हिंदी में लिखा था, इसके प्रमाण मिलने लगे हैं।

और वे तथाकथित प्रमाण कुँवर साहब को नागरीप्रचारिणी सभा की सन् १६०६–८ की खोज रिपोर्ट में उल्लिखित 'शृंगार सुख' नामक हिंदी ग्रंथ की सूचना में तथा श्री अगरचंद जी नाहटा द्वारा सं० २०११ के फाल्गुन मास की 'ब्रजभारती' में उल्लिखित विभिन्न नामों के एक ब्रजभाषा गद्य ग्रंथ से संबंधित लेख मे मिले हैं। सभा के रिपोर्टकार और श्री नाहटा जी ने उक्त ग्रंथों को रूपसनातन कृत बतलाया है।

रूपसनातन किसी एक लेखक या कवि का नाम नहीं है। ये दो नाम हैं, जो चैतन्य संप्रदाय के सर्वमान्य विद्वान् दो गौड़ीय गोस्वामी बंधुओं के हैं। उनमें पहिला नाम अनुज का है और दूसरा नाम अग्रज का। रूपगोस्वामी अनुज थे, जो अपने अग्रज सनातन गोस्वामी के प्रति अत्यंत श्रद्धाभावना रखते थे, इसलिये अपने नाम को अपने आदरणीय अग्रज से पहिले लगाना उनके लिये संभव नहीं था। फिर उन दोनो ने पृथक्-पृथक् ग्रंथरचनाएँ की हैं और उनमें नामों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनकी कोई भी प्रामाणिक रचना उन दोनों के संमिलित नामों से नहीं मिलती है। इसलिये रूपसनातन जैसे असंगत और कल्पित नामों की प्रामाणिकता स्पष्ट है।

श्री अगरचंद जी नाहटा ने जिस गद्य ग्रंथ का उल्लेख किया है, वह राधा मिलन, राधामाधव मिलन, श्री माधो राधा विलास, राधा माधो लीला विलास पूर्णमासी जी की कथा, विदग्ध माधो, आदि अनेक नामों से मिलता है। इसी ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति बाबा कृष्णदास के पास है जिसपर ग्रंथ का नाम गोपेश्वर-रूपगोस्वामी संवाद लिखा हुआ है, किंतु उसे बाबा जी ने 'विदग्धमाधव वार्ता' के नाम से प्रकाशित किया है।

इस संबंध में तथ्य की बात यह है कि रूपगोस्वामी ने संस्कृत भाषा में 'विदग्ध माधव' नामक एक नाटक की रचना ब्रज के गोकुल ग्राम में सं० १५६० में की थी। वह नाटक संस्कृतज्ञ भक्तजनों में बड़ा लोकप्रिय हुआ था। उसका लाभ संस्कृत से अनभिज्ञ भक्त-जन-समुदाय को पहुँचाने के लिये उसके आधार पर ब्रज-भाषा गद्य में अनेक प्रतियाँ तैयार की गई थीं। उन्हें लिखनेवाले वे विभिन्न भक्त जन थे, जो रूपगोस्वामी और उनके अग्रज सनातन गोस्वामी के प्रति अत्यंत श्रद्धा रखते थे। उन प्रतियों पर अनुवादकों ने अपना नाम देने की इसलिये आवश्यकता नहीं समझी थी कि उनमें उनका कोई कृतित्व नहीं था। जो कुछ था, वह रूपगोस्वामी का था, किंतु उनका नाम भी इसलिये नहीं दिया गया कि वे प्रतियाँ उनके नाटक का अविकल अनुवाद भी नहीं थीं। किसी किसी प्रति पर

उनका और उनके अग्रज सनातन गोस्वामी का नाम इसलिये लिख दिया गया था कि अनुवादक उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करना चाहता था।

जिस भक्तिकाल में वे प्रतियाँ तैयार की गई थीं, उस काल में मौलिक कृतिकार भी अपने नाम और रचनाकाल देने के प्रति अधिक जागरूक नहीं हुआ करते थे। फिर अनुवादकों को इस संबंध में सावधान होने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। उनका उद्देश्य उस प्रकार की कृतियों को तैयार करने में नाम और रचनाकाल जैसी लौकिक बातों की विज्ञप्ति करने की अपेक्षा उनके द्वारा भक्तिभावना का प्रचार करना मात्र होता था।

फिर उस काल के भक्त कवियों में एक और परंपरा प्रचलित थी। वह थी, या तो अपने नाम को न देकर अपने गुरु या आदरणीय का ही नाम देना, अथवा अपने नाम के साथ अपने गुरु या आदरणीय का भी नाम लगा लेना। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वल्लभ संप्रदायी भक्त कवयित्री गंगाबाई की समस्त रचनाएँ "श्री विट्ठल गिरिधर" के नाम से हुई हैं। उनमें श्री विट्ठल से अभिप्राय उनके गुरु गो० विट्ठलनाथ जी से और गिरिधर से अभिप्राय उनके उपास्य देव से है। हरिदासी संप्रदाय के एक भक्त कवि पीतांबरदास ने अपने अनेक पदों में संप्रदाय के प्रथम आचार्य श्री हरिदास स्वामी का ही नाम रखा है। चैतन्य संप्रदायी सूरदास की रचनाओं में उसके नाम के साथ उसके उपास्य देव मदनमोहन जी का नाम भी जुड़ा हुआ है। वल्लभ संप्रदायी भगवानदास की रचनाओं में उनके आदरणीय रामराय का नाम लगा मिलता है। राधावल्लभीय भक्त कवि चंदसखी और चाचा वृंदावनदास के नामों के साथ उनके गुरु बालकृष्ण और रूपलाल के नाम भी लगे हुए हैं।

कृतिकारों की इस विनम्रता के कारण गलत नामों का प्रचार हो जाने से अनेक साहित्यिक उलझनें उत्पन्न हो गई हैं। ऐसी ही उलझन विदग्ध माधव नाटक के आधार पर तैयार किए हुए उक्त गद्य ग्रंथों के संबंध की है और ऐसी ही गोविंदहुलास नाटक के विषय में भी है। उन सबका आधार रूपगोस्वामी की रचना अवश्य है, किंतु उनमें से किसी के भी लेखक रूपगोस्वामी स्वयं नहीं हैं।

गोविंदहुलास नाटक के प्रणेता के रूप में रूपगोस्वामी अथवा जीवगोस्वामी का नाम देने में कुँवर चंद्रप्रकाश जी को एक सात्विक प्रलोभन भी रहा है। वह प्रलोभन हिंदी साहित्यकारों की पंक्ति में उक्त गोस्वामियों जैसे प्रकांड विद्वानों को संमिलित करना है। निस्संदेह प्रत्येक हिंदीप्रेमी को हार्दिक प्रसन्नता होगी, यदि किसी प्रकार रूपगोस्वामी अथवा जीवगोस्वामी को ब्रजभाषा हिंदी का कवि या लेखक सिद्ध किया जा सकता, पर दुर्भाग्य से ऐसा होना संभव नहीं है।

जीवगोस्वामी के हिंदी कवि या लेखक होने की सूचना किसी भी सूत्र से आज तक नहीं मिली। रूपगोस्वामी के संबंध में ग्रियर्सन का हवाला देते हुए कुँवर साहब ने लिखा है कि कृष्णानंद व्यास कृत विशाल संगीत ग्रंथ राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम के हिंदी रचयिताओं की सूची में रूपसनातन का भी नाम है। यदि कुँवर साहब ने स्वयं वह ग्रंथ देखा होता, तो वह कदापि ऐसा नहीं लिखते। उक्त ग्रंथ की वर्णानुक्रमिक नामसूची में सनातन या जीव के तो कतई नाम नहीं हैं, रूप और रूपस्वामी के नाम अवश्य हैं। उनकी रचनाएँ क्रमशः पृष्ठ ५३५ और ६६ पर होने की सूचना दी गई है। उक्त ग्रंथ के पृष्ठ ५३५ पर जो रचना है, वह रूपगोस्वामी की नहीं है, बल्कि रूपरसिक नामक दूसरे संगीतज्ञ कवि की है। पृष्ठ ६६ पर रूपस्वामी के नाम की भी कोई रचना नहीं है। उसी ग्रंथ में रूपनिधान, रूपनिधि, रूपमति, रूपरंग और रूपरास की रचनाएँ होने की भी सूचनाएँ हैं, किंतु वे सब नाम रूपगोस्वामी से भिन्न व्यक्तियों के हैं। इस प्रकार राग कल्पद्रुम में जीव, रूप और सनातन में से किसी की भी कोई रचना नहीं है।

उक्त गोस्वामीगण अपने समय के विख्यात साहित्यकार और चैतन्य संप्रदाय के सर्वमान्य व्याख्याकार थे, अतः उनकी रचनाएँ उन्हीं के समय में खूब प्रचलित हो गई थीं। उनकी बहुसंख्यक प्रतिलिपियाँ व्रज से बंगाल तक के चैतन्य संप्रदायी भक्तों में प्रचुरता से प्रचारित हुई थीं। तब से उनके ग्रंथों के मूल तथा टीका, टिप्पणी और व्याख्यासहित अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। गोस्वामियों के सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में है, व्रजभाषा हिंदी में उनकी कोई रचना नहीं है। वे संस्कृत रचनाएँ इतनी सर्वविदित हैं कि अब उनके संबंध मे कोई अप्रकट या अप्रकाशित बात शेष नहीं है। ऐसी दशा में उक्त गोस्वामियो को हिंदी लेखकों की पंक्ति में बैठाने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता। यह प्रलोभन छोड़ना ही पड़ेगा।

मैंपिछले २५–३० वर्षों से व्रज साहित्य का अन्वेषण, अवलोकन और आलोडन करता रहा हूँ। इस अवधि में मुझे सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाएँ देखने का सुयोग मिला है, किंतु मुझे उक्त गोस्वामियों में से किसी की व्रजभाषा हिंदी में रची हुई एक पंक्ति भी नहीं मिली। ऐसी दशा में गोविंदहुलास जैसे सर्वांगपूर्ण और प्रौढ़ नाटक का उन्हें प्रणेता बतलाना वास्तविकता से रहित और व्यर्थ की कल्पना मात्र है।

फिर इस नाटक का प्रणेता कौन है? मेरे विचार से वह नायक नाम का भक्त कवि है। उसने ग्रंथ के आरंभिक मंगलाचरण में ही अपने आदरणीय सर्वश्री सनातन और रूप गोस्वामियों के श्लिष्ट नामों के साथ अपने नाम की भी स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है।

रुचिर सनातन तनु विमल, रूप सील कोविद सरस।
बसहु सदा नायक हिए, श्रीकृष्ण नाम पारस परस ॥

ऐसी स्पष्टोक्ति के होते हुए भी इस नाटक के प्रणेता की खोज में कुँवर साहब को इधर उधर भटकने का व्यर्थ श्रम करना पड़ा, यह आश्चर्य की बात है। उन्होंने मिश्रबंधु विनोद, शिवसिंह सरोज, और सूदन कृत सुजान चरित्र में नायक को खोजने का प्रयास किया था, किंतु उन ग्रंथों से उन्हें संतोष नहीं हुआ। उनमें जिस नायक कवि का उल्लेख है, वह इस नाटक का प्रणेता नहीं समझा गया। इसीलिये उनका ध्यान नायक की तरफ से हटकर अन्यत्र जम गया था।

असल में नायक की खोज उपयुक्त रचनाओं में की ही नहीं गई। नायक भक्तकवि है और भक्तों का प्रामाणिक उल्लेख भक्तमाल अथवा भक्तनामावली जैसी रचनाओं में ही हुआ है। ध्रुवदास कृत भक्तनामावली के दोहा सं० ४७ में नायक का उल्लेख मिलता है; किंतु वह रचना कुँवर साहब की दृष्टि में नहीं आई थी। उसका उल्लेख इस प्रकार है :

अति अनन्य निज धर्म मैं, नाइक रसिक मुकुंद।
बसे विपिन रस भजन कै, छांड़ि जगत सुख वृंद ॥४७॥

उक्त दोहे में नायक और रसिक मुकुंद नामक भक्तों का उल्लेख है। उसमें बतलाया गया है कि वे दोनों भक्तजन अपने धर्म के प्रति अनन्य भाव रखते थे और जगत् के दुःखद्वंदों को छोड़कर भजन करने के लिये वृंदावन में आकर बस गए थे। इससे ज्ञात होता है कि नायक वृंदावन का मूल निवासी नहीं था, बल्कि धार्मिक भावना के कारण अपने निवासस्थान को छोड़कर वृंदावन में रहने को आया था। ध्रुवदास की रचना में उसके नाम का उल्लेख होने से उसका काल १७वीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता।

ध्रुवदास ने नायक के नाम का उल्लेख राधावल्लभ संप्रदायी भक्तकवियों के सिलसिले में किया है। उन्होंने व्यास जी, सेवक जी, नरवाहन जी जैसे विख्यात राधावल्लभीय भक्तों का नामोल्लेख करने के पश्चात् नायक और रसिक मुकुंद के नाम लिखे हैं। उनके बाद फिर राधावल्लभीय चतुर्भुजदास और वैष्णवदास के नाम आए हैं। कदाचित् इसीलिये श्री किशोरीशरण अलि ने नायक और रसिक मुकुंद को राधावल्लभीय भक्त कवि समझकर उनके नामों का उल्लेख श्री हित-राधा वल्लभीय साहित्य रत्नावली में किया है और उन्हें १७ वीं शताब्दी का कवि बतलाया है। नायक के राधावल्लभीय होने का समर्थन गोविंदहुलास की मूल पांडुलिपि से भी होता है, उसमें १ से २३ तक के पृष्ठों में श्री व्यास जी और राधावल्लभीय भक्तों के पदों का संकलन है तथा अंतिम पृष्ठ ७६ की समाप्ति भी श्री राधावल्लभो जयति, श्रीराधा श्रीराधा शब्दों के साथ हुई है। फिर भी

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि वह राधावल्लभीय ही था। गौड़ीय गोस्वामियों के प्रति श्रद्धाभावना के कारण उसे चैतन्य संप्रदाय का अनुयायी भी माना जा सकता है।

जिस भक्तनामावली में नायक का उल्लेख हुआ है, उसका संपादन बा० राधाकृष्णदास जी ने किया है। उन्होंने नायक के नाम पर टिप्पणी करते हुए केवल इतना बतलाया है "डा० ग्रियर्सन ने सरदार कवि के संग्रह के आधार पर इनका और मुकुंद कवि का नाम लिखा है"। इससे ज्ञात होता है कि उक्त बाबू साहब नायक का विशेष वृत्तांत उपलब्ध नहीं कर सके थे।

नायक का विशेष वृत्तांत ही नहीं, उसकी अधिक रचनाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। उसकी कुछ स्फुट रचनाएँ संगीत ग्रंथों में मिलती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वह भक्त कवि होने के साथ ही साथ संगीतज्ञ और गायक भी था। राग कल्पद्रुम की वर्णानुक्रमिक सूची में नायक का नाम है और उसकी रचना प्रथम खंड के पृष्ठ १७२ पर बतलाई गई है। यह रचना अपूर्ण और अशुद्ध मालूम होती है जो इस प्रकार है :

कटाछ बाढ़ देत कर पल्लव वस्तर लिए,
अंजन सुधारत तिय चाहत अवास रे।
एक कर दर्पन लिए वदन निहारत ऐसी लागे,
मानों "नायक" द्रष्टि परत तब रहे न सुध संभार रे॥

इसी खंड के पृष्ठ २२२ पर नायक की एक और रचना है, किंतु उसके पृष्ठांक का संकेत उक्त सूची में नहीं दिया गया है। वह रचना इस प्रकार है :

मोसों नंद को सुवन उरझै।
कैसो हों पनघटवा जाऊँ, अब मोरा जिय लरजै॥
और सखी कोई मनहिं न भावै, हमहीं सों हठ रार मचावै,
ब्रज में भयौ यह निपट निडर, को "नायक" बरजै॥

नायक की एक संगीत रचना श्री भरत व्यास जी से प्राप्त कर स्वयं कुँवर चंद्रप्रकाश जी ने भी उद्धृत की है, किंतु उसे उन्होंने रूप सनातन की रचना समझा है। वह रचना इस प्रकार है :

बगरे लतान युत सगरे विटप वर,
सुमन सुगंध मय समीर मयन को।
चातक चकोर चकवाक पिउ पुकार,
धवनि विचित्र चातक सुवयन चयन की॥
पुलिन कालिंदी की, सुवेस बेस जुवति जूथ,
मध्य राधिका सु स्याम,

राास नाद टेरि मुरलि
बादित बर राग रति गहन की ॥
ऐसी न देखिन छबि,
कहत सनातन रूप जीव,
'नायक' सोभा सरद रयन की ॥

उक्त ध्रुपद में नायक के नाम के साथ सनातन रूप और जीव के नाम भी हैं। यदि इन नामों के कारण ही इस ध्रुपद को रूपसनातन की रचना कहा जा सकता है, तो फिर इसे रूप, सनातन, जीव और नायक चारों की संमिलित रचना कहना अधिक उपयुक्त होगा। किंतु इस प्रकार का कथन सर्वथा हास्यास्पद ही कहा जायगा। वास्तव में उक्त ध्रुपद का रचयिता नायक है, जिसने अपने नाम के साथ अपने आदरणीय गुरुजन सनातन, रूप और जीव गोस्वामीगण के नाम भी लगा दिए हैं। इस प्रकार से नाम लगाने की परंपरा भक्तिकाल में प्रचलित थी, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है।

यह प्रसन्नता की बात है कि जिस नायक नाम के भक्त कवि और गायक की कुछ स्फुट रचनाएँ ही अब तक प्राप्त थीं, उसकी एक सर्वांगपूर्ण नाट्य रचना गोविंदहुलास के रूप में भी उपलब्ध हो गई है। इसका श्रेय कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह जी को है, भले ही वह स्वयं अभी तक इसके संबंध में अँधेरे में ही हों।

*

हिंदी में 'बावनी' की परंपरा

अगरचंद नाहटा

•

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के वर्ष ६७ अंक २ में श्री वासुदेवसिंह का 'हिंदी में बावनी काव्यपरंपरा' लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने मेरे द्वारा संपादित राजस्थान मे हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज भाग ४ को मुख्य आधार मानकर बावनी काव्यपरंपरा पर प्रकाश डाला है : पर ऐसा प्रतीत होता है उन्होंने अब से २७ वर्ष पूर्व प्रकाशित ('मधुकर', जून-जुलाई, १९३६ के अंक मे) हिंदी भाषा मे बावनी साहित्य' नामक मेरे लेख को नहीं देखा है। मैंने उस लेख में श्री वासुदेव सिंह द्वारा उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त और भी कई रचनाओं की जानकारी दी थी। यदि श्री वासुदेवसिंह उसे देख लेते तो उनको और भी अधिक सूचनाएँ प्राप्त हो जातीं। जैसा उन्होंने लिखा है, १३वीं शताब्दी की पृथ्वीचंद्र की रचना के बाद कबीर रचित एक बावनी का पता चलता है। पर वास्तव में इसी बीच मे जैन विद्वानों की रची हुई और भी ऐसी बहुत सी रचनाएँ प्राप्त हैं जिनसे स्पष्ट है कि यह परंपरा अविच्छिन्न रूप से आजतक चली आ रही है। मैंने अपने लेख में २१ बावनी और ४ बारहखड़ी संज्ञक रचनाओं की सूची दी थी। इधर कई वर्षों में तो मुझे ऐसी और भी बहुत सी रचनाएँ प्राप्त एवं ज्ञात हुई हैं। मैंने अपने पूर्ववर्ती लेख में राजस्थानी भाषा को हिंदी से स्वतंत्र एवं अलग मानते हुए केवल हिंदी रचनाओं की ही सूची दी थी। वैसे राजस्थानी भाषा मे भी २५ ३० बावनियाँ प्राप्त हैं और उनमें से अधिकांश मेरे संग्रह में हैं।

अब मैं अपने उक्त लेख का आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ क्योंकि 'मधुकर' के अंक अब सुप्राप्य नहीं हैं। नागरी लिपि में अ से अः तक १६ स्वर के और व्यंजन के ३६ कुल पूरे ५२ अक्षर हैं। इन अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर से प्रारंभ होकर अक्षरानुक्रम से रची हुई बावन पद्योंवाली (अर्थात् बावन अक्षरों पर बावन पद्य रचे जाने के कारण) कृति को 'बावनी' संज्ञा दी गई है। 'आपणो कविओ'[1] नामक गुजराती ग्रंथ के अनुसार वे बावन अक्षर इस प्रकार हैं :

१. गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी से प्रकाशित।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, रि (ऋ), री (ॠ), लि (ऌ), ली (ॡ) ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यंजन—क, ख, ग, घ, ङ (न), च, छ, ज, झ, ञ (न), ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ। पर कई रचनाओं में कई अक्षर भिन्न प्रकार के भी पाए जाते हैं—जैन रचनाएँ ऊं, न, म, सि, ध, (ॐ नमो सिद्धं) इन पाँच अक्षरों से प्रारंभ होती हैं। बावनियों में ङ, ञ के स्थान पर न; ष के स्थान पर ख; य और अः के स्थान पर ज और अ (रचना में कठिनता के कारण) प्रयुक्त किए गए हैं। कुछ कवियों ने ऋ ॠ ऌ ॡ को कुछ ने क्ष, त्र, ज्ञ को छोड़ दिया है।

विभिन्न नाम

'बावनी' नामकरण तो बावन पद्यों एवं बावन अक्षरों पर रचे जानेवाले पद्यों के कारण हुआ है, पर मुसलमान लेखकों ने ऐसी वर्णमाला पर की जानेवाली रचनाओं को अखरावट[1] या ककहरा[2] की संज्ञा दी है। कहीं कहीं ऐसी रचनाओं की संज्ञा बारहखड़ी भी पाई जाती है, क्योंकि अनेक रचनाओं मे स्वराक्षर प्रयुक्त न होकर व्यंजनाक्षर ही प्रयुक्त हुए हैं। कुछ रचनाएँ क, का, कि, की ऐसी ऐसी बारहखड़ी[3] के रूप में भी रची गई है।

बावनी रचनाओं का प्रारंभ एवं विकास

वर्णमाला पर रची जानेवाली रचनाओं का प्रारंभ कब से हुआ, यह कहना कठिन है, पर उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इसका प्रारंभ अपभ्रंश काल से ही हुआ प्रतीत होता है।[4] जैन लेखक ही संभवतः इस प्रणाली आविष्कर्ता थे।

१. मलिक मुहम्मद जायसी रचित।

२. महात्मा कबीर का बीजक एवं ककहरा। महाराजा विश्वनाथसिंह एवं रामसहाय रचित ककहरे भी पाए जाते हैं। ककावली की सबसे बड़ी रचना जैन योगी बुद्धिसागर सूरि जी रचित ककावली सुबोध है जिसकी रचना सं० १६८० में २६६२ पद्यों में गुजराती भाषा में हुई है। अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल पादुरा से उपर्युक्त ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

३. जनकराज किशोरीशरण रचित बारहखड़ी आदि।

४. हिंदी साहित्य में वर्णमाला के अक्षरों से आरंभ होनेवाली पद्य कृतियों में जायसी का 'अखरावट' एवं कबीर के 'ककहरे' सबसे प्राचीन हैं। अतः हिंदी भाषा की दृष्टि से ऐसी रचनाओं का प्रारंभिक काल १६वीं शताब्दी माना जा सकता है।

अद्यावधि उपलब्ध ऐसी रचनाओं में निश्चित समय की जानकारीवाली पृथ्वीचंद रचित 'मातृका प्रथमाक्षर दोधक' (दो० ५८) सबसे प्राचीन है जिसकी प्रति (हमारी खोज से) बीकानेर के महिमाभक्ति भंडार में सं० १४०० के आसपास की लिखित उपलब्ध है। जैसा पृथ्वीचंद्र ने अपनी उक्त रचना के अंत में निर्देश किया है, वे अभयदेवसूरि के शिष्य थे, जिनका सं० १२७८ में रचित जयंतविजय काव्य निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। श्रीयुत मोहनलाल दुलीचंद देसाई ने अपने जैन गुर्जर कविओ' (भाग १) में पृथ्वीचंद का समय १४२६ के लगभग लिखा है। पर हमारे नम्र मतानुसार इनका समय सं० १३०० के लगभग होना चाहिए। इसके पश्चात् १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कवि पद्मरचित 'दूहा मातृका' और 'मातृका चौपाई' 'प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह' में प्रकाशित है। इसी ग्रंथ में प्रकाशित शालिभद्रकक्क (गा० ७१) है, जिसमें स्वर को छोड़कर व्यंजनों पर ही पद्य लिखे गए हैं। 'सम्यकत्व माई चउपई' (गा० ६४) जिनेश्वर सूरि के शिष्य जगडू रचित भी इसी रचना प्रकार की रचना है। इस ग्रंथ के संपादक स्व० दलाल ने ऐसी एक अन्य रचना 'संवेग मातृका' का उल्लेख किया है। १५वीं शताब्दी की ऐसी रचना देवसुंदर सूरि के शिष्य द्वारा रचित 'काकबंध चौपाई' (गा० ६७) उपलब्ध है। प्रस्तुत शालिभद्र कक्क के समान क का, ख खा, इस प्रकार प्रत्येक व्यंजनाक्षरों पर दो दो पद्य रचे गए हैं। १६वीं शताब्दी में कवि पद्म की 'डूँगर बावनी' (गा० ५४) हमारे संग्रह में है। इसी प्रकार कवि खेम ने 'खेम बावनी' तथा छीहल ने 'छीहल बावनी' सं० १५८४ में बनाई। १७वीं शताब्दी की, बावनी संज्ञक रचनाओं मे जैन कवि जिनसिंह सूरि, श्रीसार जटमल एवं लालचंद्रादि की बावनियाँ हमारे संग्रह में हैं, एवं 'दुर्जनसाल बावनी' 'अध्यात्म बावनी' भी अन्यत्र प्राप्त हैं।

१८ वीं शताब्दी 'बावनी' संज्ञक रचनाओं का मध्याह्न काल है। इस शताब्दी की 'बावनी' संज्ञक बहुत सी रचनाएँ पाई जाती हैं, जिनमें धर्मसिंह की बावनी त्रय, जिनहर्ष की दो, रघुपति के तीन एवं खेतल, केशव, किशन, राजलाभ, बालचंद, जिनरंग सूरि, हंसराज, समरथविनय, भक्त उदयराज, सुंदरदास आदि की रचित एक एक बावनी उपलब्ध हैं।

१६ वीं शताब्दी में इसके प्रति कवियों का आकर्षण कम हो गया, जैन कवियों में ज्ञानसार, निहालचंद, ब्रह्म, रूपचंद एवं २०वीं सदी के प्रथम दशक में रचित चिदानंद की बावनी उपलब्ध हैं।

जैनेतर कवियों की ऐसी रचनाओं में केशवदास रचित 'रतनबावनी' और भूषण रचित 'शिवा बावनी' हिंदी साहित्य में प्रसिद्ध हैं।

'बावनी' संज्ञा की प्रसिद्धि इतनी अधिक हुई कि पिछले कवियों ने वर्ण-

माला पर न रचे जानेवाली एवं बावन से अधिक पद्यों की संख्या होने पर भी अपनी कई रचनाओं को 'बावनी' नाम से प्रसिद्ध किया है।

ऊपर जिस 'बावनी' साहित्य की चर्चा की गई है, वह अधिकांशतः जैन कवियों द्वारा रचित है, एवं गुजराती, हिंदी और राजस्थानी तीनों भाषाओं में रचा गया है। उनमें केवल हिंदी भाषा में रचित 'बावनी' साहित्य की सूची नीचे दी जा रही है :

ग्रंथ नाम	रचयिता	संवत्
१. अध्यात्म बावनी	हीरानंद	संवत् १६६८ के पूर्व रचित
२. दुर्जनसाल बावनी	कृष्णदास	संवत् १६५२
ज्ञान बावनी (बनारसीदास नामांकित)	पीतांबर संवत् १८८६ से बनारसीदास	
३. ज्ञान बावनी	हंसराज	—
४. अन्योक्ति ,,	विनयभक्ति	—
५. धर्म ,,	धर्मवर्धन	संवत् १७२५.
६. दोहा ,,	जिनहर्ष	,, १७३०
७. केशव ,,	केशवदास	,, १७३६
८. दोहा ,,	राजकवि	,, १७४१
९. सवैया ,,	बालचंद	,,
१०. किसन ,,	किसन	संवत् १७६७
११. जसराज ,,	जिनहर्ष	,, १७३४
१२. मान ,,	मान कवि	,,
१३. हेमराज ,,	राजकवि	,,
१४. प्रबोध ,,	जिनरंग सूरि	,, १७३१
१५. प्रबोध ,,	सुंदरदास	,,
१६. जैनसार ,,	रघुपति	,, १८०२
१७. निहाल ,,	ज्ञानसार	,, १८८१
१८. ब्रह्म ,,	निहालचंद	,, १८०१
१९. लघुब्रह्म ,,	ब्रह्म रूपचंद	,,
२०. सवैया ,,	चिदानंद	,,
२१. (भीखजन) पद्य ५४	भीखजन	संवत् १६७२
बावनी दोहा चौपाई पद्य ५७	सुंदरदास	सुंदरदास ग्रंथावली
२२. आध्यात्म ,,	चेतन	सं० १८५३
२३. जैन बारहखड़ी (पद्य४१)	सूरत	

२४. बारहखड़ी (पद्य ३९) लच्छीलाल
२५. बारहखड़ी (पद्य ७४) दत्त

(इनमें से नं० २१, २४, २५, के अतिरिक्त सभी के रचयिता जैन हैं)

राजस्थानी भाषा में तो बावनियाँ पचासों हैं पर हिंदी के दि० जैन कवियों आदि की रचित दसों बावनियों, कक्का, बारहखड़ी आदि रचनाओं का विवरण जयपुर शास्त्र भंडार सूची में प्रकाशित हो चुका है।

'बावनी' साहित्य के प्रमुख छंद दोहा, सवैया, कवित्त, छप्पय, एवं कुंडलियाँ हैं और विषय नैतिक धार्मिक उपदेश है। जैन कवियों की रचित बावनियाँ सर्वजनोपयोगी नैतिक साहित्य है। व्याख्यानादि में इनके पद्यों का उपयोग सुभाषितों की तरह होता है। स्वतंत्र शोध करने पर और भी बहुत सी रचनाएँ मिलेंगी तथा बहुत कुछ नवीन ज्ञातव्य मिलने की संभावना है[1]।

*

१. विविध विषयक हिंदी साहित्य के संबंध में मैंने अपने कई लेखों में प्रकाश डाला है। पाठकों की जानकारी के लिये उनकी सूची यहाँ दी जाती है :

१. विविध विषयक हिंदी जैन साहित्य -- संमेलन पत्रिका, वर्ष २८ अंक ११
२. रत्नपरीक्षा विषयक हिंदी साहित्य — राजस्थान साहित्य व० १ अं० १
३. संगीत ,, ,, ,, — ,, ,, , २
४. शब्दकोष ,, ,, ,, — , ४
५. विक्रमादित्य ,, ,, ,, — ,, ,, , ३
६. जैनों द्वारा रचित हिंदी पद्यमय वैद्यक ग्रंथ – हिंदुस्तानी, भाग ११, अंक २
७. हिंदी शकुन साहित्य — मधुकर, वर्ष ५, अंक १५-१६
८. कुंदशास्त्र संबंधी हिंदी ग्रंथ — संमेलन पत्रिका

पाणिनिस्मृत शिशुक्रंदीय : एक वैद्यक ग्रंथ

रामशंकर भट्टाचार्य

आचार्य पाणिनि का सूत्र है - 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यः छः' (४।३।८८)। इस सूत्र में 'अधिकृत्य कृते ग्रंथे' (४।३।८७) सूत्र का अधिकार प्रवर्तित होता है, जिससे ग्रंथविशेष के अर्थ में 'शिशुक्रंदीय' शब्द सिद्ध होता है। इस शिशुक्रंदीय ग्रंथ का स्वरूप क्या है, इस विषय में विभिन्न मत मिलते हैं[1], पर प्रचलित सभी मत भ्रांत हैं। हमारे विचार में 'शिशुक्रंदीय' आयुर्वेद का कौमारभृत्य अंगातर्गत एक ग्रंथ है। इस विषय में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य हैं :

क — जो विद्वान् यह समझते हैं कि शिशुक्रंदीय या तो कोई काव्य होगा या नाटक, उनको यह जानना चाहिए कि 'अधिकृत्य कृते ग्रंथे' (४।३।८७) सूत्र में ऐसा कोई संकेत नहीं है कि इस सूत्र के अधिकार में जो पद सिद्ध होंगे, वे काव्य, नाटक, आख्यान या आख्यायिका ही होने के लिये होंगे। इस अधिकार में जो शब्द हैं, वे काव्यादि हो भी सकते हैं, नहीं भी; उनपर लोक में 'ग्रंथ' की बुद्धि होनी चाहिए; वह प्रकार काव्यजातीय हो, या नाटक जातीय हो, इत्यादि कोई विवक्षा सूत्रकार की यहाँ नहीं है।

ख—पूर्वाचार्य भी ऐसा ही समझते थे। नारायणभट्ट ने "प्रक्रियासर्वस्व व्याख्या में ४।३।८७ के उदाहरण में 'ज्योतिष' शब्द के विषय में कहा है। 'यह

१. डा० राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं—'ही न्यू आव ए वाइड वेराइटी आव सेक्युलर लिटरेचर कंप्राइजिंग ड्रामा (इ० जी० शिशुक्रंदीय इन ४. ३. ८८)' हिंदू सिविलिजेशन, पृ० १२२। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं—'विषय पर आश्रित ग्रंथों के कुछ नामों का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने किया है, जैसे शिशुक्रंदीय (बच्चे के रोने की घटना पर लिखा हुआ नाटक या काव्य, संभवतः कृष्णजन्म की कथा इसका विषय था।'—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३०२; पुनः 'काव्य साहित्य के अंतर्गत पाणिनि ने शिशुक्रंदीय का उल्लेख किया है''—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३३१।

ज्योतिष काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका नहीं है, बल्कि ज्योतिर्विशपरक ग्रंथ-विशेष है'।[१] अन्यान्य उदाहरण भी सिद्ध करते हैं ४।३।८७ सूत्र 'विषयाधिकार-पूर्वक कृत ग्रंथ' में ही प्रवृत्त होता है, उसमें काव्य नाटकादि शैली की कुछ भी विवक्षा नहीं है। किसी भी प्राचीन व्याख्यान में ४।३।८७ सूत्र से निश्चित काव्यादि शैली का कोई भी संबंध कहा नहीं गया है, और न कोई 'ज्ञापक' ही ऐसा है, जिससे यह कहा जा सके कि ४।३।८८ सूत्रसिद्ध शिशुक्रंदीय आदि शब्द काव्यादि के नामविशेष होने के लिये बाध्य हैं। आख्यान आख्यायिकादि का संबंध इस अधिकार में है, यह दूसरी बात है। (द्र० भाष्य, प्रदीप, उद्योत)।

ग—विचारने से पता चलता है कि पूर्वाचार्य निश्चित रूप से जानते थे कि ४।३।८७-८८ सूत्र तर्कोपजीवी ग्रंथ, प्रयोगमूलक ग्रंथ आदि सर्वप्रकार के ग्रंथों में भी प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकरण के अंतर्गत 'द्वंद्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः' वार्तिक के उदाहरण में, 'गौणमुख्यम्' यह उदाहरण काशिकाकार ने दिया है। गौणमुख्यम् किसी काव्य - नाटक - आख्यान - आख्यायिका का नाम है, ऐसा प्रतीत नहीं होता, बल्कि मुख्यगौणभाव-विचार-परायण यह कोई ग्रंथ है, यह स्पष्टतया ज्ञात होता है। यह भी सोचना चाहिए कि ४।३।८७ यदि काव्यादि विषयक होता तो ४।३।८८ के उदाहरणों में 'वाक्यपदीय' नाम न लियागया होता (काशिका में), वाक्यपदीय काव्य - नाटक - आख्यान - आख्यातिका में अन्यतम नहीं है, यह तो शब्दशास्त्रीय प्रकरणग्रंथ है।

घ—अनुसंधान करने से ज्ञात होता है कि शिशुक्रंदीय रोगविशेष से संबद्ध आयुर्वेदीय ग्रंथ है, और पाणिनि के द्वारा यही ग्रंथ लक्षित हुआ है, अन्य शिशुक्रंदीय नामक काव्य, नाटक या आख्यायिका नहीं। किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इस नाम के काव्य, नाटक या आख्यायिका का उल्लेख भी नहीं है। इस शब्द के अर्थ के विषय मे काशिका में कहा गया है—'शिशूनां क्रंदनं शिशुक्रंदः

१. 'ग्रंथ' से पाणिनि की विवक्षा वस्तुतः कैसी है, यह ज्ञातव्य है। निरुक्तकार ने स्वकृत 'निरुक्त' को ग्रंथ ही कहा है—इमं ग्रंथं समाम्नासिषुः (१।२०)। जहाँ शब्दों का सन्निवेश निश्चित है और उस सन्निवेश का परिमाण भी निश्चित किया गया है, वहीं ग्रंथ पद व्यवहार्य है, ऐसा अत्यंत प्राचीन काल में माना जाता था। लिखित पत्रों को बाँधने की क्रिया से ग्रंथ का संबंध है, ऐसा कहना भी संगत है, जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है—'ग्रंथ संदर्भे, संदर्भो बंधनम्' (भ्वादि गण ४१ सूत्र, क्षीरतरङ्गिणी) वचन इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। निरुक्त ग्रंथ है, पर वह न काव्य है, न नाटक।

तमधिकृत्य कृतो ग्रंथः' शिशुक्रंदीयः। नारायणभट्ट ने भी यही कहा है— 'शिशूनां क्रंदनविषयो ग्रंथः शिशुक्रंदीयः' (प्रक्रियासर्वस्व)। इन दो व्याख्यानों में 'शिशूनाम्' यह बहुवचनांत पद स्वीकृत हुआ है, अतः 'कृष्णनामक एक शिशु के क्रंदन को लेकर यह काव्य लिखा गया था' ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं है। सभी व्याख्याकार यहाँ बहुवचनांत पद ही स्वीकार करते हैं; जब तक इसमें दोष न दिखाया जाय, तब तक स्वतंत्र कल्पना का कोई भी अवकाश नहीं है।

ङ—उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध हुआ कि शिशुक्रंदीय ग्रंथ शिशुरोदन-विषयक है। यह रोग से संबद्ध है, जैसा पुरुषोत्तमदेव ने कहा है—शिशुक्रंद रोगमधिकृत्य कृतोग्रंथः शिशुक्रंदीयः (भाषावृत्ति)। यह शिशुक्रंदनरोग चिकित्सा-शास्त्र का विषय है जो अष्टांग आयुर्वेद के कौमारभृत्य अंग में गिना जाता है। अशुद्ध दुग्धपान, ग्रहाभिभूतता आदि के कारण शिशु व्याधित हो जाते हैं, और व्याधित शिशु का प्रधान लक्षण है—क्रंदन। इस शिशुक्रंदन को लेकर किसी प्राचीन आचार्य ने शिशुक्रंदीय' नामक कोई प्रकरणग्रंथ लिखा था (क्योंकि यह कौमारभृत्य अंग का एक प्रधान विषय है, पूर्ण अंग नहीं) जिसका स्मरण पाणिनि ने ४।३।८८ सूत्र में किया।

च—आयुर्वेदीय ग्रंथ में कौमारभृत्य विवरण में शिशुक्रंदन रोग और उसकी चिकित्सा विवृत हुई है (द्र० सुश्रुत, उत्तरतंत्र २७-३८ अध्याय)। इस प्रकरण में जहाँ बाल, दारक आदि शब्द स्वल्पमात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ 'शिशु' शब्द बहुल प्रयुक्त है (सुश्रुत, उत्तरतंत्र २७।७, २७ १२; २७।१५; २६।२; ३१।२, ३३।२; ३६।२ देवेंद्रनाथ कविराज संस्करण)। 'क्रन्दित' शब्द भी २७ ४ में है। शिशुरोग का क्रंदन ही बाह्य लक्षण है, अतः 'शिशुक्रंद' शब्द प्रयुक्त होता है, जो कौमार-भृत्य अंग का मुख्य विषय है। कुमारभृत्यं तंत्र तो कुमारव्याधि उपशमार्थ ही है।

१. इससे यह भी सिद्ध हुआ कि 'शिशुक्रंदीय' किसी एक ग्रंथ का ही नाम होगा, ऐसी बात नहीं। शिशुक्रंद रोग पर लिखित सभी ग्रंथ शिशुक्रंदीय हैं। शंका होगी कि तब 'इंद्रजननादि' गण में ही शिशुक्रंद का पाठ क्यों नहीं किया गया? 'इंद्रजननीय' शब्द किसी विशिष्ट ग्रंथ का नाम है, जो इंद्रजनन पर लिखा गया गया हो और शिशुक्रंदीय तो 'शिशुक्रंद' पर लिखित सर्व ग्रंथों के नाम हैं अतः शिशुक्रंद को पृथक् पढ़ा गया है। यह समाधान पुनः विचारार्ह है यद्यपि इससे शिशुक्रंद के रोगनामविशेष का खंडन नहीं होता।

छ—अंत में यह प्रश्न उठता है कि पाणिनिस्मृत यह शिशुक्रंदीय ग्रंथ किसके द्वारा रचित है। यह अज्ञात है। शिशुक्रंदीय किसी एक ही ग्रंथ का नाम है, यह भी कहना कठिन है; शिशुक्रंदन विषय का अधिकार कर जो भी ग्रंथ लिखा जाएगा, वह शिशुक्रंदीय पदवाच्य होगा और कौमारभृत्य अंग के अंतर्गत अनेक शिशुक्रंदीय थे, यह भी कहा जा सकता है। इस विषय में अनेक ग्रंथ थे, जिसका एक उपलब्ध रूप काश्यपसंहिता है, जो राजगुरु हेमराज शर्मा द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुई है। 'आयुर्वेद का इतिहास' (कविराज सूरमचंद्रकृत) ग्रंथ में इस शास्त्र के ग्रंथों एवं ग्रंथकारों का विवरण द्रष्टव्य है (१३वाँ अध्याय)।

ज – 'कौमारभृत्य' आयुर्वेद के आठ अंगों में आद्य है (काश्यपसंहिता, पृ० ४२)। क्या इसीलिये 'शिशुक्रंद' को सूत्र में सर्वादि में रखा गया है और इंद्रजननादि गण (जो आकृतिगण है—पदमंजरी) में इसका समावेश नहीं किया गया। चूँकि 'विरुद्धभोजनीय' आदि छोटे छोटे अवांतर विषयनामों का पाठ इंद्रजननादि में किया गया है और शिशुक्रंद तो एक पूर्ण अंग है। अभी यह उत्तर संदिग्ध है।

*

'निज' कवि और उनका भ्रमरगीत

भगवानदास तिवारी

महाकवि नंददास प्रणीत भँवरगीत की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति खोजते खोजते जब मैं वाराणसी पहुँचा तब यहाँ के वयोवृद्ध साहित्यसेवी बाबू ब्रजरत्नदासजी के निजी संग्रह में मुझे 'निज' कविकृत 'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' नामक एक बृहद ग्रंथ देखने को मिला। इस ग्रंथ के प्रारंभ में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

संप्रदाय माधव मध्व आचारज,
गौडेश्वर कृष्ण चैतन्य महाप्रभू अवतार धार।
जगत उधारन को पतितन तारन को,
श्रीभट्ट गोपाल आदि शिष्य षट निरधार ॥
जासु सीस राधारौन प्रगट भए हैं ब्रज,
सेवा को दई है राधा रमनी गुसाँई तार।
सोई वंस अवतंस रहस बिहारीलाल,
तासु सुत निजदास रच्यो यह ग्रंथसार ॥

राधा रमन सु इष्ट मम, आचारज चइतन्य।
जाति द्विजन्मा गौड़िया, मध्व संप्रदाय जन्म ॥
रासबिहारी जू पिता, परम भागवत धाम।
श्री राधागोबिंद मम, बड़े भ्रात को नाम ॥
ए मेरे हैं मंत्र गुरु, श्री राधागोविंद।
बार बार बंदउँ सदा, चरन उभय अरविंद ॥'[1]

उक्त अवतरण से पता चलता है कि श्री कृष्णचैतन्य गोस्वामी, राधारमणी गोस्वामी रसिकबिहारीलाल जी के पुत्र थे। श्री राधागोविंद जी इनके अग्रज और मंत्रगुरु थे। श्री कृष्णचैतन्य गोस्वामी कविता में अपना नाम 'निज कवि' लिखा करते थे। निज जी संस्कृत, ब्रजभाषा, काव्यशास्त्र और ज्योतिष के अधिकारी

१. उक्तिजुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति; पत्र १–२, छंद ३–६।

विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि राजा शिवप्रसाद, भारतेंदु हरिश्चंद्र, गोस्वामी दंपतिकिशोर जी, मन्नालाल 'द्विज' आदि इन्हें गुरुवत् संमान देते थे और पंडित अंबिकादत्त व्यास के पिता पंडित दुर्गादत्त जी व्यास, लोकनाथ चौबे, और हनुमान कवि इनके सत्संग से लाभान्वित होते थे। गोस्वामी किशोरीलाल जी इनके दौहित्र तथा शिष्य थे।

'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' में निज जी के जन्मसंवत्, जन्मस्थान, शिक्षा-दीक्षा, निवासस्थान और मृत्युतिथि का कहीं परिचय नहीं मिलता। बाबू व्रजरत्न दास जी का कथन है कि लगभग १५० वर्ष पहले गोस्वामी रसिकबिहारीलाल जी काशी के गोलघर महाल में आकर बसे थे और मैदागिन पर वर्तमान जैनमंदिर के पूर्व की ओर इनका एक बाग था। श्रीकृष्णचैतन्य गोस्वामी का परिचय देते हुए बाबू व्रजरत्नदास जी ने लिखा है कि गो० किशोरीलाल जी का जन्म संवत् १९२२ वि० में हुआ था, अतः उनकी मातामह की आयु उस समय कम से कम चालीस बयालीस वर्ष की रही होगी। इस प्रकार इनका जन्मसंवत् १८८० के लगभग आता है। राजा शिवप्रसाद का भी यही जन्मसंवत् है, जो इन्हें गुरुवत् मानते थे। अतः गोस्वामी जी का जन्म संवत् १८७० के लगभग मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है। इनकी रचनाओं की पाडुलिपि का काल संवत् १९३४ से १९३७ तक है। भारतेंदु जी की पत्रिकाओं में इनकी स्फुट रचनाएँ छपा करती थीं तथा बाद में उन्होंने इनकी विशद रचना का कुछ अंश पुस्तकाकार भी छपाया था। भारतेंदु जी का निधन संवत् १९४२ में हुआ, अतः इसी संवत् के आसपास गोस्वामी जी गोलोक सिधारे।[१]

'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' एक बृहदाकार ग्रंथ है, जो दो जिल्दों में बँधा है। पहली जिल्द में चार कलाएँ और १४७ पत्र अर्थात् २९४ पृष्ठ हैं। इसमें प्रत्येक पृष्ठ का आकार ८"×१२.७" है। प्रत्येक पृष्ठ के मध्य में ४.८"×८.३" आकार की एक पीली फ्रेम है, जिसके बीच में प्रत्येक पृष्ठ पर २३ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ९–१० शब्द हैं। पहली जिल्द का अंतिम पत्र क्रमांक १४८ कोरा है। दूसरी जिल्द में पत्र क्रमांक १४९ से २४४ तक १९२ पृष्ठों में १२ कलाएँ दी गई हैं। इस जिल्द के प्रत्येक पृष्ठ का आकार ७.२"×१२" है। इसके मध्य में ४८"×८.१" का फ्रेम है जिसके बीच में प्रत्येक पृष्ठ पर २१–२२ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ८–९ शब्द हैं। सारा ग्रंथ एक

१. श्री गौरांग—संपादक: श्री व्रजरत्नदास, वर्ष ५, अंक ३, अप्रैल १९६७, पृष्ठ २६–२७।

ही प्रकार की हस्तलिपि में लिखा गया है। अंतर केवल इतना है कि दूसरी जिल्द के हस्तलेख में अक्षरों का आकार कुछ बड़ा है।

ग्रंथ के प्रारंभ में ही कवि ने निज-वंश-वर्णन के उपरांत ग्रंथरचना का प्रयोजन और उसकी विषयानुक्रमणिका दी है। यथा—

अथ ग्रंथप्रयोजनं

बहु कवि की कविता विमल, लाषन कोटि कवित्त।
ताहू में जो जो अधिक, सुंदर बानी मित्त॥ ८॥
तिन बानी हू मैं भली, भली चुटीली उक्त।
सो सब जुक्तिनु छाँटि के, रच्यो ग्रंथ अभिजुक्त॥ ९॥
लाषन कवि के कवित की, उक्ति जुक्ति को छाँटि।
परम चुटीली ढूँढि निज, धरी ग्रंथ मैं साँटि॥१०॥
उक्त कबिनु की जुक्ति को, जुक्त करी इक ठाम।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, निज कवि राख्यौ नाम॥११॥
सहसनि ग्रंथनि को सुरस, एक ग्रंथ बिचलेतु।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, यही प्रयोजन हेतु॥१२॥[1]

अथ ग्रंथ अनुक्रमणिका॥

अब बरनो या ग्रंथ कौ, सकल अनुक्रम रास।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, सोलह कला प्रकास॥१३॥
ग्रंथारंभन कैरवी, प्रमथ कला को नाम।
मंजु प्रेम शाला रची, दुतिय कला अभिराम॥१४॥
नाम सौंदर्य चंद्रिका, तीजी कला प्रमान।
दृग मंजूषा सुकवि निज, चौथी कला बषान॥१५॥
भाव कुमुद अहलादिनी, पंचम कला अनूप।
नव रस सरस चकोरिनी, छठी कला को रूप॥१६॥
नायक इंदु प्रभा करी, सप्तम कला उजास।
नाम सु अष्टम कला को, है नायका प्रकास॥१७॥
सर्व दूतिका दुति कला, नवमी करौ बखान।
नाम सुरति किरनावलि, दसई कला प्रमान॥१८॥

१. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र १-२।

षटरितु मंजु मरीचिका, कला इकादस नाम।
पाँच कला करिके कहीं, अलंकार गुन ग्राम ॥१९॥
राख्यो पाँचहु कला को, निजकवि एकै नाम।
सु अलंकार छपा विषै, अलंकार गुन ग्राम ॥२०॥
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, इमि सोलह अध्याय।
बरनी सोलह कला करि, कवि निजदास बनाय ॥२१॥[१]

सोलह-कला-संपन्न इस ग्रंथ में ५२६५ छंद हैं। अलग अलग कलाओं के अनुसार इनकी संख्या इस प्रकार है —

ग्रंथारंभ कैरवी-४१६, प्रेम-सुधाकर-शाला-१०३७, सौंदर्यचंद्रिका नख-शिख-४१८, नेत्रमंजूषा-२०४, भावकुमुद आह्लादिनी-२११, नवरस चकोरिनी-३८७, नायक इंदुप्रभा-३४७, नायिकाप्रकाश-८६८, सर्वदूतिका द्युति—२७५, सुरतिकिरणावलि—१७६, षटऋतु मरीचिका—३२७, अलंकारछपा—४३, दूषणवर्णन—२५, दूषणोल्लास दूषणसमाधान —३०, शब्दालंकार गुणालंकार —४०, अर्थालंकार—४१५। इनमें से भाव-कुमुद-आह्लादिनी तथा सर्वदूतिकाद्युति का लिपिकाल क्रमशः संवत् १६२८ तथा १६३१ दिया गया है। अलंकारछपा में वार्ता का अंश प्रचुर परिमाण में है। इस छपा में कुल मिलाकर २०० से भी अधिक अर्थालंकार दिए गए हैं, किंतु छंदशास्त्र पर इस ग्रंथ में कुछ नहीं लिखा गया है। समस्त ग्रंथ में दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैए प्रमुख छंद हैं तथा बीच बीच में कवि ने वार्ताओं द्वारा काव्य की बारीकियों पर प्रकाश डाला है।

इतना सब कुछ होने पर भी ग्रंथप्रयोजन में दी गई कवि की सूचना के अनुसार उक्ति जुक्ति रस कौमुदी 'लाखों करोड़ों कवित्तों' मे से चुनी हुई वाणी का संकलन नहीं कहा जा सकता और न वह 'लाषन कवि के कवित्त', या 'सहसनि ग्रंथन को सुरस' है। ये सभी संख्यावाचक विशेषण सही नहीं हैं। वास्तव में यह कवि की सुदीर्घ संकलनसाधना और सुरुचि के द्योतक मात्र हैं, जिनके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि निज जी ने बड़े परिश्रम से केशवदास, कालिदास, बनवारी कवि, ग्वाल, आनंदघन, गुसाईं दयालदास, आलम, नाथ कवि, गुलाब-कुँवर, पद्माकर, नूर कवि, मोहन कवि, बेनी आदि की रचनाओं को मनोयोग से पढ़कर अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्हें संकलित किया है। अतः संकलन की

१. वही, पत्र २।

दृष्टि से 'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' 'कालिदास हजारा' की परंपरा की रचना है। फिर भी यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना अत्यंत आवश्यक है कि निजी जी केवल संकलनकर्ता ही नहीं, उच्च श्रेणी के भावुक कवि और रीतिकालीन काव्यपरंपरा के आचार्य भी थे। उनकी उक्ति जुक्ति रस कौमुदी में लगभग पचास प्रतिशत काव्य उनका अपना प्रदेय है।

उक्ति जुक्ति रस कौमुदी का वर्ण्य विषय

'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' काव्य के विविधांगनिरूपक ग्रंथों की शृंखला की भारतेंदु कालीन कड़ी है। ग्रंथारंभ में कवि ने विविध देवी देवताओं, श्री राधारमण जी, शुकदेव आदि की वंदना के बाद यमुनाजी[1] तथा गंगा जी[2] की अष्टोत्तरियाँ, इष्टमूर्ति बाईसी[3], त्रिवेणी तैंतीसी[4] लिखी हैं। ये सभी अंश ग्रंथारंभ कैरवी में हैं, जिसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने संवत् १६२४ में 'कविवचन सुधा, वर्ष १ में प्रकाशित किया था और फिर संवत् १६२६ में इसे लीथो में पुस्तकाकार भी छापा था।

गंगा अष्टोत्तरी में गंगा के माहात्म्य का वर्णन देखिए—

> पापी आयो कूल तव मेटन को भव सूल।
> गंग कौन सो ढंग यह, बकस्यो ताहि त्रिशूल ॥
> गंग कूल भूले भर्‌योउ जम की सुनी न बात।
> बाबा भयो गनेश को[5], दै दिनेस सुत लात ॥[6]

इसी तरह त्रिवेणी तैंतीसी में त्रिवेणीसंगम की महिमा गाई गई है। त्रिवेणी तैंतीसी के अंत में कवि ने कामना की है कि वेनी जू सौं सुकवि निज, चहत तीन बरदान।

> हरि की भक्ति, समीप गति, इज्जत सहित पयान ।[7]

१. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, प्रथम कला, पत्र ३–८, छंद ७७ से १२६.
२. वही, पत्र ११–१५, छंद १७१–२४१.
३. वही, पत्र ८–११, छंद १५५–१७८.
४. वही, पत्र ११–२०, छंद २४२–३३६.
५. गनेश को बाबा अर्थात् शिव जी,
६. सूर्य के पुत्र, यमराज.
७. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र २०, छंद ३३६.

कवि की उक्त कामना उसके भक्तिभाव का निदर्शन कराती है।

दूसरी कला 'प्रेमसुधाकर शाला' या 'प्रेमसुधा शाला' है। इसमें प्रेम के स्वरूप, पात्र, पंथ, भेद, विरह आदि का विशद वर्णन किया गया है। प्रेम के स्वरूप की मीमांसा करते हुए निज जी कहते हैं—

> आदि अंत जाको न कछु रह्यो एकरस पाग।
> बीच न लेस निमित्त को, सो अभंग अनुराग॥
> रहत देत न आन रस, इहै प्रेम की टेक।
> हित को सहज सुभाव है, करत दोइ तें एक॥[1]

प्रेमपात्र का परिचय केवल इतना ही है कि—

> प्रीतम चाह अवाँ अगिनि, जाको घर पकि जात।
> निज कवि सोई हिए में, प्रेम अमी ठहरात॥[2]

प्रेमपंथ के पथिक की आंतरिक अतृप्ति का संक्षिप्त संकेत इस प्रकार है—

> अंग अंग सब मिलि रहे, मन सौं मन अरुझाइ।
> प्रेमपंथ अटपट अहो, कबहुँ न चित्त अघाइ॥[3]

इसके बाद प्रेमपंथ पर मर मिटनेवाले उन प्रेमियों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें कबीर या जायसी आदि ने 'मरजीवा' कहा है। निजजी के शब्दों में मरजीवा के प्रमाण हैं—

> सती, सूर, चातिक, मकर, मधुप, हंस, कपि हनं।
> मकरी, सुआ, सर्प, निधि, दादुर, गोहनि, वनं॥
> सीप, चकोर, दूध, जल, भृंगी, मीन, कपोत।
> सुरभी, पीन, पतंग, इमि, बहु मरजीवा होत॥[4]

इन मरजीवों के प्रेम का परिचय 'उक्त जुक्ति रस कौमुदी' में बड़े सरस ढंग से दिया गया है।[5] प्रेमियों के विवेचन के बाद कवि ने प्रेमतत्व का द्विविध विश्लेषण किया है—

१. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र १७, छंद ६, १२।
२. वही, पत्र १७–१८, छंद २०।
३. वही, पत्र १८, छंद २८।
४. वही, पत्र १८, छंद ४१, ४२।
५. द्रष्टव्य—उक्त प्रति में पत्र १८ से १२ तक, छंदसंख्या ४३–१२८।

प्रेम जु नर नारीन को, सो संसारी जानु।
भक्तन को भगवंत सों, परमारथी बखानु ॥[६]

उत्तम प्रकार का प्रेम भगवद्विषयक प्रेम है। महर्षि नारद ने जिस प्रकार भक्ति को 'परम-प्रेम-रूपा' कहकर आदर्श प्रेमकर्त्री के रूप में 'यथा व्रजगोपिकानाम्' प्रमाण दिया है, उसी तरह निज जी का मत है कि—

प्रेम प्रकार अनेक विधि, तिनमें उत्तम भाँति।
अद्भुत प्रीति गोविंद की, जिनके उर झलकाँति ॥
सो यह प्रेम विलोकि निज श्री बृजवनिता माँहि।
जिन बिच अंतर निमिष को, होत जु कबहू नाँहि ॥[७]

निज जी का विचार है कि जिस प्रकार शास्त्रज्ञान के लिये ककहरा पढ़ना आवश्यक है, उसी तरह परमार्थी प्रेम की उपलब्धि के लिये सांसारिक प्रेम प्रथम सोपानस्वरूप है। प्रेम के ये उभय पक्ष मुक्तिमार्ग के साधन हैं—

संसारी परमारथी दुवै विधि को यह प्रेम।
दुहूँ भाँति सो देत है, महा मुक्ति गति छेम ॥
ससारी ही प्रेम सों परमारथी पिछान।
बिना ककहरा पढ़े नहिं, होत शास्त्र विज्ञान ॥[८]

इसके उपरात निज जी ने बड़ी बारीकी से प्रेमियों की दशा के भेद किए हैं—

'प्रेमीनु की दसा के भेद अनेक ॥ अभिलाष ॥ श्रवण ॥ उत्कंठा ॥ दरसन॥ लज्जा ॥ सज्जा ॥ प्रेम ॥ चिंता ॥ गुप्त ॥ अगुप्त ॥ संकल्प ॥ विकल्प ॥ स्मृति ॥ स्तंभ ॥ स्वेद ॥ रोमाच ॥ सुरभंग ॥ कंप ॥ वैवर्ण ॥ अश्रु ॥ प्रणय ॥ गुण ॥ हर्ष ॥ ईर्षा ॥ विमोह ॥ अपस्मार ॥ उद्वेग ॥ त्रस्तु ॥ देश ॥ काल ॥ प्रलाप ॥ स्नेह ॥ ज्ञान ॥ वैराग्य ॥ उपदेश ॥ संसय ॥ विभ्रम ॥ निश्चय ॥ उन्माद ॥ मद ॥ मोह॥ विस्मरण ॥ विक्षेप ॥ विमोह ॥ जड़ता ॥ व्याधि ॥ संताप ॥ आक्रंद ॥ पश्चात्ताप ॥ मूर्छा ॥ मरण ॥

यह विश्लेषण विरह की दस दशाओं में समाहित किया जा सकता है। निज जी ने अभिलाषा के पाँच भेद यथा श्रवण, दर्शन, उत्कंठा, लज्जा और प्रेम,

६. वही, पत्र १२, छंद १२१
७. वही, पत्र १३, छंद १४३–१४४।
८. वही, पत्र १३, छंद ११०।

तथा दर्शन के तीन उपभेद स्वप्न, चित्र तथा साक्षात् दिए हैं। कवि के ही शब्दों में साक्षात्कार के प्रभाव का साक्षात्कार कीजिए —

गोरी गरबीली लखी, गजगामिनि उह बाल।
वा दिन तें ता गली के, भए गुलाम गुपाल॥[1]

गुपाल जी गजगामिनि गरबीली गोरी के गुलाम नहीं, उस गली के गुलाम हो गए हैं जहाँ वह सुंदरी मिली थी। उक्ति का यह चमत्कार निज जी की विशेषता मानी जानी चाहिए।

प्रेम की जिन दशाओं का ऊपर संकेत किया गया है, उनका ३११ छंदों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[2] इस प्रकार से प्रेमतत्व प्रेमी और उनकी प्रेमदशा के विधिवत् वर्णन के बाद निज जी ने इसी प्रकरण में 'उद्धवचरित' नामक वृहत् काव्य रचा है, जिसमे लगभग ५०० से अधिक छंद हैं।

उद्धवचरित प्रेम की महनीयता का परिचायक है। कथा यो है कि एक बार भगवान् कृष्ण को अपने प्रिय ब्रजवासियों का स्मरण हो आया। उन्होंने अपने परम प्रिय मित्र उद्धव को बुलाया और उन्हें पाँच पत्र देते हुए कहा—

नंद जसोमति सखागन, गोपीजन मन प्रान॥
श्रीराधाजुत पाँच ए, पाती लेहु सुजान॥[3]

पत्र हस्तांतरित कर कृष्ण ने उद्धव को ब्रज भेजा। विशेष रूप से राधा के पास पहुँचाने के लिये श्रीकृष्ण ने उन्हें अपने वस्त्र, आभूषणादि दे अपना सा ही वेश बनाकर जाने की आज्ञा दी। उद्धव जी –

सुनि प्रेम के बैन सु नैन भरे, अति सादर लै संदेस सबै।
निज स्वामिहि सीस नवाइ चले चढ़िकै रथ पै ब्रज ओर तबै॥
पहुँचे सह साँझ ही गोकुल माँझ बिलोकि छके छिति चारु छबै।
खुर रेनु छप्यो रथ उद्धव को सुबहोरती धेनु की बेर जबै॥[4]

१. उक्ति सुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र ३५, छंद १७१।
२. वही, पत्र ३७ से ४५ तक, छंद ११५ से ४०८।
३. वही, पत्र ५६, छंद ४६६।
४. वही, पत्र ५७, छंद ५०१।

उद्धव को आता हुआ देखकर —

गोप अरु ग्वाल सखा बालकनि वृंद
हाथ वेणु दल शृंगवेत लकुट उठाए हैं।
काँच गुंज मोती मनि हाटक अभूषनादि
गात वन धातनि सौं चित्रित सुहाए हैं॥
निज जू मदन राग प्रेम अनुराग भरे
राम कृष्ण लीला गुण विरहा मैं गाए हैं।
दूरि ही ते आवत विलोकि रथ पथ माँझ
'हरिजू हैं आये' यों कहत सब धाए हैं॥[1]

सबने दौड़कर देखा तो रथ में कृष्ण नहीं, उद्धव थे। उद्धव ने सबसे भेंट की और श्रीदामा को उसका पत्र दिया।[2] यों, गोप ग्वालों को उद्धव से मिलने की जितनी प्रसन्नता थी उससे अधिक वेदना कृष्ण के न आने की थी। उद्धव को देख सारे ग्वाल बाल —

'अब न प्रान धारत बने, बिना अवधि की आस।'
यौं कहि गिरे सुमूरछित विरह, दसा दस भास॥[3]

गोप-ग्वालों की यह दशा देख उद्धव जी घबरा गए और उन्हें सांत्वना देते हुए बोले —

सोच परिहरो, धरो धीरज सखा की सौंह,
रावरी कुसल हित हरि जू को लाऊँगो।
निज जू तिहारे पासु, यही ब्रज माँझ तासु,
राखिए बिसासु खासु दरस दिखाऊँगो॥
मथुरा मैं जाइ पेन विरह निवेदन कै,
नैन वारि चरन पखारि समझाऊँगो।
सपथ किए हौं कहूँ लाए बिन रहूँ नाहिं,
कान्ह हू कही है यहि बेगि ब्रज आऊँगो॥[4]

१. वही, पत्र ५७, छंद ५०४।
२. वही, पत्र ५७, छंद ५०७।
३. वही, पत्र ५८, छंद ५१८।
४. वही, पत्र ५८, छंद ५११।

फिर गोप-ग्वालों-सहित उद्धव जी नंदगृह आए। नंदबाबा और यशोदा ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया, कुशल क्षेम पूछा। सहसा यशोदा कृष्ण और बलराम के बचपन की याद आते ही यशोदा बहुत दुखी हो उठीं। उद्धव ने नंद बाबा को समझाते हुए कहा —

माया के सतोगुन रजोगुन, तमोगुन
जे भक्त हेत निर्गुन है गुन में पुहुत है।
त्रिगुन ते न्यारो ही अजन्मा सुत तेरो नंद,
येलें उपजावे पारै मारैं को गहतु है॥[1]

कृष्ण सर्जक, पालक, संहारक, गुणातीत, अजन्मा ब्रह्म है। नंद को उन्होंने कृष्ण का ब्रह्मत्व समझाया और कहा कि —

कृष्ण भगवान वह तेरोई न पूत नंद,
पुत्र सबको है आतमा विश्व भरि को।
ईश्वर को ईश्वर है, वा बिन कछू न कहूँ,
नैन श्रौन गात गतागतिहूँ ते फरि को॥
जो कछु चुक्यौ है होइ, होइ रह्यो, होइगो
जो, कहा बड़ो छोटो कहा जंगम थविर को।
उन बिन वस्तु एक कहूँ न कहिवे के जोग
सबही सरूप परमार्थ रूप हरि को॥[2]

उद्धव की यह उक्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' के संयोजन से बनी है। ब्रज में उद्धव के आते ही सर्वत्र हलचल मच गई। गोपियों के झुंड के झुंड आकर उद्धव से पूछने लगे —

पेषि हरि जू को मीत बाढ़ी अति उर प्रीति,
अहो कहो साँची तुम किनिके पठाये हो।
कृष्ण को सो स्वांग साज, आप इत कहा काज,
कैसे ब्रजभूषन के भूषन धराए हो॥

१. वही, पत्र ६१, छंद ५१४।
२. वही, पत्र ६१–६२, छंद ५१५।

राधाकृष्ण गोपीकृष्ण प्रेम सौं कहत यामैं,
प्रश्न है हमारो यह कहा सीखि आए हौ ;
हम ब्रजवासी वे मथुरा के वासी हाय,
करत क्यौं हाँसी, कौन गुरु के पढ़ाए हौ ॥[1]

यों कुछ देर तक बातचीत कर गोपियाँ उद्धव को श्री राधा जी के पास ले गईं। मार्ग में उद्धव ने ब्रज के स्वर्गतुल्य प्राकृतिक सौंदर्य का अवलोकन किया, जिसका कवि ने बड़ा हृदयहारी वर्णन किया है।[2]

उद्धव श्री राधाजी से मिले और उन्होंने उनके आद्याशक्ति रूप की वंदना की। राधा ने भी लोकाचार की दृष्टि से उद्धव जी का सत्कार किया, उन्हें सिरोपाव दिया तथा कृष्णवियोग में अत्यंत क्षीणकाय होने के कारण बड़ा साहस और प्रयत्न कर श्रीकृष्ण के उन वस्त्राभूषणों को देखा जिन्हें उद्धव धारण कर आए थे।[3] उन्होंने अपना दुःख प्रकट नहीं किया, विरहनिवेदन भी नहीं किया, किंतु अन्य गोपियों का विरह उनसे न देखा गया। तभी अकस्मात् एक भ्रमर आकर उनके पदपंकज पर बैठने का प्रयास करने लगा। उसे संबोधित कर राधा जी ने जो उक्तियाँ कहीं हैं वे भ्रमरगीत परंपरा में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

अन्य भ्रमरगीतों में जहाँ गोपियाँ अपने भावोद्रेक से उद्धव के ज्ञान, योग और अंतःसाधनापरक दर्शन की बखिया उधेड़तीं हैं, वहाँ निज जी ने गोपियों की अपेक्षा प्रेम, भक्ति और अनन्यता की प्रतिमा राधा को वाणी दी है। विरह-विदग्धा राधा को वाणी देकर निज जी ने एक बड़ा मौलिक और स्तुत्य कार्य किया है। साथ ही अन्य भ्रमरगीतों में ज्ञान भक्ति, निर्गुण सगुण, योग प्रेम संबंधी तर्क वितर्क और उपालंभों के बाद सामान्यतः उद्धव पराजित हो प्रेम को ज्ञान और योग से श्रेष्ठतर स्वीकार कर लेते हैं और जाकर कृष्ण से उनकी निर्दयता की शिकायत कर चुप हो जाते हैं। कृष्ण भी गोपियों के प्रति अपना आंतरिक लगाव प्रकट कर मौन रह जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव के ज्ञानगर्व को चूर करना कृष्ण का अभिप्रेत प्रयोजन था और गोपियों का प्रेम तथा उपालंभ प्रकट करना कवियों का ध्येय। इन दोनों ध्येयों के बीच बेचारे उद्धव संदेशवाहक से

1. वही, पत्र ६१, छंद ४९१।
2. वही, पत्र ६४–६७, छंद ५६४–६२०।
3. 'श्री अंग के भूषन बसन पेखि कियो सत्कार।' — वही, पत्र ६७, छंद ६१०।

अधिक कुछ नहीं थे। उनका अपना अस्तित्व, उनकी अपनी आंतरिक प्रतिक्रिया, उनके मनोद्वेग भ्रमरगीत के कवियों ने नहीं आँके। केवल गोपियों को 'धन्य-धन्य' कहकर, या 'ब्रज के तरु, तृण, गुल्म, लता, पथरेणु' बनने की कामना प्रकट करने से ही उद्धव के मन पर पड़े हुए गोपियों के प्रेमविरह का प्रभाव नहीं आँका जा सकता क्योंकि वह उद्धव की वास्तविक मनोदशा का चित्रण नहीं है। अन्य भ्रमरगीतों में उद्धव कवियों के हाथ की कठपुतली बने रहे और गोपियों के आक्षेपों के श्रोता। संवादात्मक भ्रमरगीत के लेखकों (यथा नंददास) ने उद्धव को तार्किक और वक्ता जरूर चित्रित किया है किंतु जिन गोपियों के कृष्णविरह को लेकर मनों कागज रँगा गया है, उनके दुःखों की उद्धव पर कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया न दिखलाना उन कवियों की भूल ही मानी जाएगी। निज जी ने इस भूल का परिमार्जन किया है और उद्धव द्वारा गोप ग्वालों को आश्वस्त कर कृष्ण को पुनः ब्रज बुलाया है, जहाँ कृष्ण सबसे आकर मिलते है, सबके दुःख हरते हैं और गोपियों के साथ पुनः रास रचते हैं। निज जी की यह उद्भावना अधिक मानवीय धरातल से संबंध है। उनके उद्धव कृष्ण के एकागी, एकपक्षी संदेशवाहक नहीं, उभयपक्षी संदेशवाहक, भावुक, विचारशील और सक्रिय व्यक्ति हैं। निज जी ने उन्हें गोपियों का संदेशवाहक बनाकर उनका हितचिंतक भी सिद्ध किया है।

'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' का भ्रमरगीत प्रसंग मूलतः इस प्रकार है :

भागवतोक्ति ॥ भ्रमरगीत ॥

कवित ॥ सुनि ब्रजबालनि के बिरहा बचन बाधे।
साधे नहिँ बन्यौ मौने राधे अकुलानी है।
निज जू मधुप एक बैठो पद पंकज पैँ, वाहि।
दूत थाप तासोँ आप बतरौंनी है ॥
प्यारे जू के संगम को ध्यान धरि धीर धारि,
कृष्णहीँ को भेज्यो जानि प्रीति उमँगानी हैं ॥
बोलूँ ना पुरुष आँन योँही जन सदा ठान,
मधुव्रत तोहीं तैँ उचारी आजु बानी है ॥

रे रे अलि कलिनु कलिनु रस लेनहारो,
कृष्ण कपटी को मित्र पग तैँ हो गतु रे ॥
सौति कुच कुंकुम बिलुलित मालनि सोँ
रंजित पराग मुख रोम छुवाउ मतु रे ॥
मथुरी की दामिनी सी भामिनी मनायो करि,
परसत दयौं है मोहि न्हायबो परतु है ॥

याही रूप यादव सभा में आइ धूतकी,
 ह्वाँ हँसी कौं करावे तू तो ऐसो दूत हतु रे ॥
मोहनी अधर अमीं पुहुपहिं प्याइ और
 तुरत तूँ तजै तैसे इते स्याम त्यागी है।
कमला कमलनैन जू के पग सेवैं कैसे ऐसे
 कहूँ पूछे जो तू आइ हम लागी है ॥
निज जू वा ठगिया ने मूँठी मिठबोलन तें
 वाहु पै ठगी है तातें लों यौं रस पागी हैं ॥
कैधों पेषि चंचल चपल नहि छोड़ी हरि,
 मोहि तजि गयो देषि अचलानुरागी है ॥

पसु के तो चारि पाउँ तेरें छह पाउँ तातें
 डेढ़ पसु के घमंड रे अलि तू कूँजे आजु ॥
वह तो पुरानो जानो बूझो है हमारे 'निज'
 जादोपति जस ह्याँ क्यों बिना बात गूँजे आजु।
तेरो गाँन काँन मैं न नेकहूँ सुहात और,
 पग कहा जाने राग हाय वृथा भूँजे आजु ॥
अर्जुन के सषा की सषीन कौं सुनाउ जाकी
 रजगत छाती रीझ दैहै तोहि दूजे आजु ॥

कपट की मंजु हाँस, बंक भृकुटी विलास,
 ठग की सी फाँस छवि रास जो गुपाल है ॥
ए हो भृंग कौन जग अंगना अलग आहिं,
 तीनो लोक की पै जाको जाहर जमाल है ॥
पद की उपासी कमला सी बासी दासी अहो,
 तहाँ कहाँ गनती से बनवासी बाल है ॥
निज सी अनाथ की जो आइ सुधि लेगो नाथ
 तब तो रहेगी ताकी गाथ दीनदयाल है ॥

राधे के चरन तैं न चल्यो चंचरीक तब
 कहो रे उठाउ सीस पाउँ क्यों परत है।
उड़त उड़ायँ हूँ न सुघर सिषायो नृत
 धूत को पठायो दूत चातुरी ठरत है ॥
हम नाहिं भामनी हैं बिरही बिचारी बाम
 काहि तू मनावै औ बिलास को धरत है।

याही मतिबे में सुत पति दोऊ लोक छोड़े
तऊ छोड़ गयो तापैं गोड़ तू पड़त है ॥
ए रे कारो औंर तेरो कौन जु पत्यारो करै
कारे के करम सभी भली भाँति जानैं है।
कारो रघुबीर रनधीर है बिचारो बाली
छल छपि मारो यौं तौ बधिक के बाने हैं ॥
सुंदर बिलोकि सूपनखा बरिबे को आई
सीता के सुबस ताके नाक कान हाने हैं।
बैंना बनि छलिया ने बलि बाँध्यौ तौ हू कारे
दुखद की कथा हम सुखद ही माने हैं ॥

निज कबि जाके चारु चरित सुलीला रूप
अमृत को कण नेक पीवत ही जन को।
छूटि जाहि रागादिक देह को वे गेह नेह
दीन परिवार तजैं लागैं नहिँ छन को ॥
पच्छिन लौं इछाचारी भिच्छा को करत डोलैं
श्रवन सुने ही ऐसो ब्याल होत तन को।
नैन लखि पाए औ रमाए उर लाए जिन्हें
तहाँ कहाँ बूझे हाल भौंर गोपी गन को ॥

कृष्णसार हिरना की हिरनी ज्यौं गान सुनि
मोहित है बधिक लौं धाय धाय जाती हैं।
त्यों ही बंसीधर जू के नख छत घायल है
हायल है हाय हम पीरनी पिराती हैं ॥
तातें सुनि अलि उन छलिया की बातैं तजि
भए हैं न होने जैसे स्याम बामघाती हैं।
ऐसैं कहि बाल ने रुमाल तैं उड़ाय दयो
आयो है बहोरि तबै भरि आई छाती है ॥

ए रे प्रान प्यारे के सखा क्यौं फेर फिरि आयो
पिय है पठायो कहा पग क्यौं गहत हैं।
हमैं नाहिं मान मधु सीस पैं बिराजि औंन
पूजिबे समान तू तो माँगि जो चहत है ॥
लछमी जाकी बाँम निज ऐसे घनस्याम जू पैं
कैसें लै चलैगो सौति संग ही रहत है।

ताहि करि न्यारी भौंर औ.र न मरोर हमैं
    लाल की समीपिनि टरे की ज्यौं सरत है ॥
ए रे भौंर मथुरा मैं स्याम कछू सुधो भयो
    पितु मातु हू की कभी सुधि अभिलावेगी।
बंधुन कौं भैयन कौ गोपन कौं गैयन कौं
    निज किंकरीनु भूलि जैबे कब नावेगी ॥
कोऊ समय याद करि मेरी हू चलावे बात
    साँची कहु चंचरीक ब्रजरस चाखेगी।
नीलमणि जैसी कब जगर मगर बाहु
    अगर सुगंध भरी मेरे कंध राखेगो ॥

इति भ्रमरगीत ॥ उक्ति जुक्ति रस कौमुदी—पत्र ६८–६६, छंद ६३८-६४८-
भ्रमरगीत के उपरात उद्धव जी ने राधा को पत्र दिया। लिखा था—

हे राधे मम प्रान धन, छन छन प्रेम अगाध।
हम से कृतघन को अहो, छमो कोटि अपराध ॥
सिंधु मसी तरु लेखनी, वसुधा कागद माँहि।
प्रिया सनेह सरूप गुन, क्यों हू लिपि न समाहि ॥[1]

इसके बाद गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपना प्रेमोद्रेक प्रकट किया। इसी क्रम में कुब्जा चौरासी लिखी गई है तथा राधा की ललिता, विशाखा, चंपकलता, चित्रा, तुंगविद्या, इंदुलेखा रंगदेवी और सुदेवी नामक अष्टसखियों ने कृष्ण के प्रति बड़े मर्मस्पर्शी वचन कहे हैं।[2] यह संपूर्ण प्रकरण उपालंभ और विरह काव्य की अमूल्य निधि है, प्रेमभावना का महोदधि है इसका उद्धव पर इतना गहरा असर हुआ कि वे अपनी सारी ज्ञानगरिमा भूल गए। उनके मस्तिष्क से योग और निर्गुणोपासना के सारे उपदेशात्मक विचार हवा हो गए और वे ज्ञानी से प्रेमी भक्त बनने के लिये विकल हो गए। बुद्धि हार गई हृदय जीत गया। ज्ञान के मैदान में तर्क ने हथियार डाल दिए और सरस प्रेमाभक्ति विजयिनी हुई। चिंतनाक्रांत हृदय की रूक्षता में भावना लहलहा उठी और वे बोले—

अहो सकल धीरज धरो, सपथ करी मैं साँच।
लाय मिलाय मुकुंद कों, हरहुँ विरह की आँच ॥[3]

१. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी—हस्त० प्रति, पृ० ६१, छंद ६५२–६५३।
२. वही, पत्र ६६–७८, छंद ६५४–७६७।
३. वही, पत्र ७८, छंद ७७१।

उद्धव गोपियों से पत्रोत्तर माँगते हैं, इसलिये एक पत्रिकाशतक (पत्र ७८–८२ : छंद ७७४–८६१) लिखा गया है, किंतु बेचारी राधा पत्र भी न लिख सकी। राधा के पत्र लिखते ही—

कलम बरी, स्याही जरी, कागद गरि गरि जात।
यह गति देखि मनोपिये, उधो हियो दुपात ॥[1]

राधा के हाथ के स्पर्श से कागज कलम का जल जाना और आँसुओं से कागज का गल जाना अतिशयोक्ति के सुंदर दृष्टांत हैं। कविकथन है—

निज जू सुकवि ब्रज छोड़िबो न भावे ऊधो,
चराचर कृष्ण महँ पेखि अनुरागे हैं।
समाधान करि बनितान को सुजान मति,
भान की कुमारी जी के पायँ पुनि लागे हैं॥
आज्ञा लेइ हरि की प्रियानि तैं चढ़े हैं रथ
सफल संदेस धारि द्वैत रस पागे हैं।
प्रेम में मगन भूलि गए ब्रह्मज्ञान सबै,
आए तो हैं गुरु होन चेला होइ भागे हैं॥[2]

प्रेममग्न होकर उद्धव जी ब्रज के लीलास्थानों के सौंदर्य को देखते हुए मथुरा गए और उन्होंने उन्मत्त दशा में कृष्ण को ब्रज का समस्त वृत्तांत सुनाया। उनकी भावदशा देख कृष्ण बोले—

ऊधव लखि हरि मोह मैं बिहँसि कह्यौ कर मींजि।
ह्याँ सों तो कोरे गए, ह्वाँ से आए भींजि॥
अहो कहो ब्रज की कुशल, तुम क्यों विकल सुजान।
ब्रह्मज्ञान निधान हौ, कत बिसरयो विज्ञान॥[3]

इसके उपरांत कृष्ण ब्रज में आकर कुछ दिन रहे गोप ग्वालों से मिलकर उनका दुःख दूर किया तथा उन्होंने राधा, उनकी आठ सखियों, चौंसठ सहेलियों और अन्य सभी गोपियों के साथ मिलकर रासक्रीड़ा की। इसी राधा प्रसंग में ब्रह्मा ने एक युगलोपासक ऋभु नामक ऋषि को राधा के साथ युगलस्वरूप के दर्शन को भेजा तथा ब्रज से मथुरा लौटने के पूर्व—ब्रजभक्तन के बेन सुनि, बोले कृपानिकेत :

१. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र ८२, छंद ८६१।
२. वही, पत्र ८३, छंद ८६७।
३. वही, पत्र, ८५. छंद ८८२ ८८३।

ब्रज भक्तन के बैन सुनि, बोले कृपा निकेत।
मॉंस मॉंस प्रति आइहौं, अवसि तिहारे हेत॥[४]

'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी' का यह भ्रमरगीत और रासप्रसंग पत्र क्रमांक ६६, छंदसंख्या १०१७ पर समाप्त हुआ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि निज जी का 'भ्रमरगीत' प्रेम की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर अधिष्ठित है, जिसमें उन्होंने प्रेम के स्वरूप, प्रेमसाधना के सोपान, प्रेमियों के प्रकार, प्रेमपथ की विशेषता आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन कर भगवदीय प्रेम की महत्ता के प्रतिपादनार्थ भ्रमरगीत प्रसंग की अवतारणा की है। उन्होंने देवत्व से कुछ नीचे लाकर मानवीय धरातल पर कृष्ण से पत्रादि लिखवाए हैं तथा उद्धव को कोरा ज्ञानी बनाकर सहृदय दूत सिद्ध किया है। निज जी के उद्धव बड़े विनीत, धीर, भावुक, चिंतक और सहानुभूतिप्रदर्शक सत्पुरुष हैं, जो ब्रज के दीन दुखियों को पूर्ण सांत्वना नहीं देते बल्कि कृष्ण को लाकर मिलाने का आश्वासन भी देते हैं। उनका यह कार्य भागवतकार के भावजगत् से आगे की चीज है। भागवत में या अन्य भ्रमरगीतों में जहाँ गोपी उद्धव के तर्क वितर्क होते हैं, राधा अज्ञात सी या चुप रहती है, वहाँ निजजी ने भ्रमरगीत प्रसंग में उपेक्षिता राधा को अपना नारी-सुलभ आक्रोश और प्रेमिकासुलभ भावुक हृदय खोलकर रखने का अवसर दिया है। यह निज जी की मौलिकता है। राधा का प्रिय के अतिरिक्त परपुरुष से संभाषण न करना उसके चरित्र की दिव्यता का परिचायक है। आदर्श प्रेमिका का यह रूप अपने आपमें अपूर्व है किंतु भ्रमर पर राधा का पहले कुपित होना और उसके पुनः चरण के निकट आने पर क्रोध का एक दम गायब होना अस्वभाविक है। फिर राधा का भ्रमर के लिये जो चाहे सो देने को तैयार हो जाना तो स्पष्टतः कवि की अतिभावुकता का लक्षण है। राधा का यह 'औचक' परिवर्तन मनोवैज्ञानिक नहीं है। मथुरा से कृष्ण का ब्रज लौटना, गोप ग्वालों को संतुष्ट करना और गोपियों के साथ रास करना निज जी की निजी कल्पना है, विशेषकर युगलस्वरूपोपासक प्रभु को मोक्षदान देने का प्रसंग रास के साथ रखना निज जी की एक अनोखी सूझ है, जिसके पीछे चैतन्य संप्रदाय की युगलोपासना की भावना विद्यमान है। आवश्यकता है—निजजी के उक्त भँवरगीत के अध्ययन, अनुशीलन की तथा उसे हिंदी साहित्य की भ्रमरगीत परंपरा में यथोचित स्थान देने की। आशा है उक्त रचना की ओर हिंदी के विद्वान् ध्यान देंगे।

*

१. वही, पत्र ६८, छंद १०२४।

चयन

[बुलेटिन आव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट, [भाग १४, १९६३-६४ में प्रकाशित श्री एम० के० धवलिकर कृत 'द ओरिजिन आव तारा' नामक निबंध का सारतत्व]

तारा का आविर्भाव

बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय में बोधिसत्वों की कल्पना के फलस्वरूप देव-देवियों का एक जटिल देवकुल तैयार हो गया। अवलोकितेश्वर की नारी-प्रतिरूप तारा उनमें अत्यंत महत्वपूर्ण देवी हैं। बौद्ध देवकुल में इनका वही स्थान है जो हिंदू देवकुल में दुर्गा का। तारा को बुद्धों और बोधिसत्वों की जननी माना गया है और उनकी स्थिति स्वतंत्र सी प्रतीत होती है।

नाम की व्युत्पत्ति के अनुसार तारा रक्षिका या मुक्तिदायिका हैं जो अपने आराधकों को कष्टों के सागर से पार करती हैं। तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में इन्हें जो नाम मिले हैं उनका भी यही अर्थ है। इसीलिये जलराशि का संतरण करते समय उनका आह्वान किया जाता है और उन्हें जलमार्ग का नियंत्रक माना जाता है।

बौद्ध देवकुल में तारा के आगमन की ठीक तिथि ज्ञात नहीं हो सकी है। वैसे तो उन्हें काफी प्राचीन समझा जाता है, किंतु उनकी प्रतिमाएँ ईसा की छठीं शताब्दी से ही मिलनी शुरू होती हैं। तब से मुसलमानों के शासन के आरंभ तक उनका व्यापक प्रसार हुआ।

सामान्यतया तारा का उद्‌गमस्रोत बौद्ध धर्म माना जाता है। हीरनंद शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऐंड कल्ट आव तारा' में ऐसा ही मत प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि पुराने ब्राह्मण ग्रंथों मे तारा का उल्लेख नहीं मिलता और यदि कहीं मिलता भी है तो वह बौद्ध अधिक और ब्राह्मण कम प्रतीत होता है। वे संबद्ध तांत्रिक ग्रंथों के उद्धरण देते हुए प्रमाणित करते हैं कि ब्राह्मणों ने अपने पुराण में तारा को बौद्ध देवकुल से ग्रहण किया है। तारा की आराधना 'चीनाचार' (अर्चना की चीनी पद्धति) द्वारा होती है और उनके मस्तक पर 'अक्षोभ्य' रखा जाता है। इन तथ्यों से भी इसी कल्पना को बल मिलता है कि इनका मूलोद्‌गम बौद्ध धर्म ही है।

बुद्ध-प्रतिमा-विज्ञान के एक दूसरे विद्वान् भट्टाचार्य का मत भी इसी पक्ष में है। साधनमाला में उल्लिखित तारा के ध्यान की तुलना तंत्ररहस्य और तंत्रसार से करने पर उन्हें समानताएँ मिलीं। तंत्रसाहित्य द्वारा प्राप्त प्रमाणों के आधार पर श्री शास्त्री ने तारा का उद्गमस्थल उत्तर में लद्दाख के आसपास कहीं माना है। लद्दाख से तिब्बत और नेपाल जाकर तारा ने लोकप्रियता अर्जित की और फिर वहाँ से वह भारत आईं।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व तारा की स्थिति संभव नहीं प्रतीत होती क्योंकि परवर्ती गांधार कला तक में उनकी प्रतिमा नहीं मिलती। तारा की प्राचीनतम प्रतिमाएँ छठी सातवीं शताब्दी में पश्चिम भारत की बौद्ध गुफाओं में प्राप्त होती हैं और ऐसा लगता है कि उस काल में वे काफी प्रचलित हो चुकी थीं। छठी शताब्दी में बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय में शक्तिपूजा आ चुकी थी। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि तारा का प्रत्यय पाँचवीं शती में आविर्भूत हुआ और सातवीं शती में, जब तांत्रिक प्रभाव अपने चरमोत्कर्ष पर था, द्वितीय महाविद्या के रूप में उन्हें ब्राह्मण धर्म में अंगीकार किया गया और तब वह भारत तथा अन्य अनेक देशों में प्रचलित हो गईं।

तारोपासना के संबंध में उपर्युक्त मत परंपरित रूप से प्रायः सर्वमान्य हो चुके हैं किंतु यदि हम प्राचीन ब्राह्मण साहित्य और शिल्प संबंधी प्रमाणों का आलोचनात्मक पुनः परीक्षण करें तो ये हमें निस्सार प्रतीत होंगे।

परवर्ती ब्राह्मण साहित्य विशेष रूप से तांत्रिक साहित्य में हिंदूदेवी के रूप में जिस प्रकार तारा का उल्लेख हुआ है वह निस्संदेह हिंदू की अपेक्षा बौद्ध अधिक प्रतीत होता है; किंतु प्राचीन ब्राह्मण साहित्य में तारा का उल्लेख दुर्गा के एक उपनाम के रूप में हुआ है। पृथक् और स्वतंत्र देवी के रूप में तारा का उल्लेख पुराणों में हुआ है। ब्रह्मानंद पुराण के ललितोपाख्यान में न केवल तारा का उल्लेख किया गया है बल्कि ब्राह्मण धर्म की एक पृथक् देवी के रूप में उनका पूरा वर्णन भी किया गया है। संभवतः प्राचीन काल में हिंदू इनकी पूजा करते रहे होंगे। इस पुराण में इनका वर्णन महाशक्ति और तारांबा (तारा+अंबा) के रूप में है। वह अमृत सरोवर में जलमार्ग का नियंत्रण करनेवाली असंख्य नाविकाओं की प्रधान मानी गई हैं। वह जलप्लावन को नियंत्रित कर सकती हैं। अग्निपुराण में तारा का उल्लेख योगिनी के रूप में किया गया है। पुराणों में तारा का उल्लेख जिस प्रकार देवी के रूप में हुआ है, वह तंत्र साहित्य में उनके उल्लेखों से बाह्यरूप में भिन्न है। तंत्रसाहित्य में उन्हें महाविद्या के रूप में स्मरण किया गया है। बहुत संभव है, पुराणों की तारा तंत्रों की तारा की पूर्वगामिनी हों।

डा० हाजरा के विश्लेषणों के अनुसार ब्रह्मानंद पुराण चौथी शती के आस पास की रचना है। अतः यह प्रमाणसिद्ध है कि पाँचवीं शती के पूर्व ही तारा जलयात्रा की देवी के रूप में हिंदू देवकुल मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी थीं। बौद्ध साहित्य में तारा का उल्लेख छठी शती के पूर्व नहीं मिलता और वहाँ उन्हें जलयात्रा से भी नहीं जोड़ा गया है। तारा की शिल्पाकृतियाँ या प्रतिमाएँ भी छठी शती के पूर्व नहीं मिलतीं। इन सबसे यही लगता है कि तारा का प्रत्यय बौद्ध महायान संप्रदाय ने हिंदू देवकुल से ग्रहण किया। बौद्धों के और भी बहुत से देवताओं का मूलोद्गम हिंदू देवकुल है। सरस्वती और कुबेर तो अपने मूलरूप में ही ले लिए गए हैं, अवलोकितेश्वर के बहुत से रूपों पर भी ब्राह्मण देवताओं का स्पष्ट प्रभाव है। बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले हिंदू अपने साथ अपने बहुत से पुराने देवताओं के प्रति श्रद्धासंस्कार भी लिए आते थे अतः उन्हें अपने देवकुल में संमिलित कर लेना बौद्धों को हितकर प्रतीत हुआ।

पुराणों के साक्ष्यानुसार तारा हिंदुओं के लिये जलमार्ग की देवी थीं अतः बहुत संभव है, उनकी आराधना करनेवालों में मुख्य रूप से मल्लाह, नाविक, और व्यापारी रहे हों। अत्यंत प्राचीन काल से ही इनका एकमात्र पथप्रदर्शक ध्रुवतारा रहा है अतः संभवतः इसीलिये उन्होंने जलयात्रा की देवी का नाम भी तारा रख दिया। यह स्वाभाविक ही था कि तटवर्ती प्रदेशों के इन जनसमुदायों को बौद्ध धर्मानुयायी अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये उनकी अधिष्ठातृ देवी तारा को अपने देवकुल में स्थान देते। जैनों ने इन्हें संभवतः बौद्धों से ग्रहीत किया।

अब हम तारा के उद्गमस्थान की भी कुछ विवेचना कर लें। शास्त्री जी की धारणा है कि तारा का उद्गम और विकास लद्दाख के आस पास कहीं हुआ और वहाँ से तिब्बत और नेपाल होते हुए वह उत्तर भारत (मगध) में आई। मगध से इनका प्रसार सारे भारत में हुआ। किंतु उपयुक्त प्रमाणों के अभाव के कारण यह सिद्धांत ठीक नहीं जँचता। यदि यह धारणा सत्य होती तो तारा की प्रथम प्रतिमाएँ लद्दाख, तिब्बत, या नेपाल में मिलतीं। इसके विपरीत उनका आदि स्रोत पश्चिमी भारत सिद्ध होता है जहाँ उन्हें अवलोकितेश्वर के ही समान शक्तियों से मंडित देखा गया है और उनके सदृश ही उन्हें भी श्रेणी और श्रद्धा दी गई है। उत्तरी दकन और पश्चिमी भारत की बौद्ध गुफाओं में उनकी प्रतिमाओं की बहुतायत देखने से लगता है कि कान्हेरी, एलोरा, नासिक, औरंगाबाद और अजंता में उनकी अर्चना काफी प्रचलित हो चुकी थी। शैली के आधार पर इन सभी प्रतिमाओं का कालनिर्धारण छठी सातवीं ईसवी शती के

आसपास ही ठहरता है और चूँकि इससे पूर्व की कोई प्रतिमा कहीं उपलब्ध नहीं, हम इन्हें प्राचीनतम मान सकते हैं। वे मूलतः जलयात्रा की देवी थीं अतः भारत के पश्चिमी तट पर उनकी प्रतिमाओं का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं लगता। पश्चिमी तट उन दिनों समुद्री यात्रा का प्रसिद्ध केंद्र था। यहाँ नाविक और व्यापारी अपनी सुरक्षा के लिये तारा का आह्वान और उनकी उपासना करते थे। उन्हीं के वैयक्तिक या सामूहिक प्रयासों के फलस्वरूप पश्चिमी भारत की बौद्ध गुफाओं में उनकी मूर्तियों का उत्कीर्णन हुआ।

पार्वती और तारा की समानता भी उल्लेखनीय है। प्राचीन ब्राह्मण साहित्य में तारा का उल्लेख पार्वती के ही एक अन्य नाम के रूप में हुआ है। शिव की सहवासिनी पार्वती का एक और नाम दुर्गा भी है। दुर्गा को सभी देवताओं की जननी माना गया है और बौद्ध धर्म में तारा को भी सभी देवताओं की जननी माना जाता है। अतः बौद्ध देवकुल में तारा को लाने का उद्देश्य उक्त धर्म में एक शक्तिशाली नारी अधिष्ठातृ को संमिलित करना जान पड़ता है। एलोरा में तारा की मूर्तियों के साथ उनकी जो स्तुतियाँ उत्कीर्ण हैं उनकी समता मारकंडेय पुराण में प्राप्त होती है। इससे महत्वपूर्ण एवं रोचक तथ्य प्राप्त होता है कि अष्ट महाभयों से रक्षा के लिये हिंदुओं द्वारा चंडी की पूजा ने भी बौद्धों को प्रेरणा दी कि वे अपने धर्म में भी ऐसी देवी की स्थापना करें।

निर्देश

ब्रह्मविद्या, द आद्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, भाग १८, सं० ३-४, दिसंबर १९६४

सम सिमिलीज इन द ऋग्वेद [ऋग्वेद की कतिपय गूढ़ एवं अस्पष्ट उपमाओं का विवेचन]

—ए० वेंकटासुब्बैया

एपिग्राफिकल नोट्स [मंदसोर अभिलेख का विवेचन]

— साधु राम

महाविद्या सिलोजिज्म [ग्यारहवीं शती के कुलार्क पंडित द्वारा प्रतिपादित महाविद्या न्याय का विवेचन]

—ई० आर० श्रीकृष्णशर्मा

शैविज्म इन मेडीवल राजस्थान [मध्यकालीन राजस्थान में शैवमत की स्थिति का विवेचन]

—जी० एन० शर्मा

द बुद्धचरित ऐंड द सांख्य आव अराड़कालम [अराड़कालम के दार्शनिक सिद्धांतों तथा सांख्य और बौद्ध दर्शनों पर उनके प्रभाव का विवेचन]

—के० बी० रामकृष्ण राव

द गद्यकर्णामृत आव सकलविद्याचक्रवर्तिन [सकलविद्या चक्रवर्ती कृत संस्कृत आख्यायिका गद्यकर्णामृत का विवेचन]

—एस० एस० जानकी

द निरुक्त वार्तिक आव नीलकंठ [यास्क के निरुक्त पर नीलकंठ के पद्यवार्तिक का विवेचन]

—के० कुंजुन्नि राजा

वाक, संख्या ६, दिसंबर १९६४

ग्लासरी आव संस्कृत फ्राम इंडोनेशिया [हिंदेशिया के संस्कृत ग्राम लेखों, प्राचीन संस्कृत ग्रंथों, एवं पुराणों तथा महाकाव्यों के प्राचीन जावाई रूपांतरों में निहित संस्कृत सामग्री से संगृहीत शब्दों का उनके अर्थों के साथ संकलन]

—जे० ए० बी० वान बुइटेनेन तथा जे० एनसिंक

बुलेटिन आव द दकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट, भाग १४, १९६३-६४

द ओरिजिन आव तारा [तारोपासना के बौद्ध और ब्राह्मण स्रोतों का अनुशीलन]

—एम० के० धवलीकर

द सत्तनागाज आव देवगिरी [धारवाड़ जिलांतर्गत देवगिरि गाँव के मल्लिकार्जुन मंदिर में उत्कीर्ण सप्तनागों का विवेचन]

—नागराज राव तथा अमलेडकर

विष्णु इन विश्वरूप फ्राम नेपाल [विष्णु के विश्वरूप को व्यक्त करनेवाली नेपाल में प्राप्त प्रतिमाओं की विवेचन]

—पी० आर० शर्मा

परख, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़, संख्या १, १९६४

द क्रिटिकल स्टडी आव आदिग्रंथ [आदिग्रंथ का आलोचनात्मक अध्ययन]

— डा० सुरिंदर सिंह को हली

पंजाबी शार्टस्टोरी, इट्स ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट [पंजाबी कहानियों के उद्गम और विकास का अध्ययन]

—डा० एस० एस० उप्पल

द कंप्लीट पोएटिकल वर्क्स आव बावा साधुजान [अठारहवीं शती के पंजाबी रहस्यवादी कवि बाबा साधुजान की कृतियों का अध्ययन]

—डा० धरमबीरसिंह कोहली

ए साइंटिफिक एप्रोच टु लैंग्वेज [पंजाबी का वर्णनात्मक भाषा-वैज्ञानिक विवेचन]

—डा० हरजीतसिंह गिल

ऐन एनालिसिस आव पंजाबी वावेल्स [पंजाबी भाषा के स्वरों का विवेचन]

—डा० गुरुबख्श सिंह

मिर्जा साहिबाँ [मिर्जा और साहिबाँ के लोकप्रिय पंजाबी प्रेमकथा का विवेचन]

—डा० वी० एन० तिवारी

परख संख्या १, १९६५

द कंसेप्ट आव माया इन आदि ग्रंथ [आदि ग्रंथ में वर्णित माया के स्वरूप का विवेचन]

—डा० सुरिंदरसिंह कोहली

ए क्रिटिकल स्टडी आव पंजाबी प्रोवर्ब्स [पंजाबी मुहावरों और कहावतों का आलोचनात्मक अध्ययन]

—डा० सोहिंदरसिंह बनजारा बेदी

सम ऐस्पेक्ट्स आव डोगरी लिंग्विस्टिक्स [डोगरी की कतिपय भाषा-वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विवेचन]

—प्रो० गौरीशंकर

द रोमांस आव सस्सी पुन्नुं [पंजाब की लोकप्रिय प्रेमकथा सस्सी पुन्नुं का विवेचन]

—डा० हरनामसिंह शान

द ड्रैमेटिक ट्रेडिशन्स आव पंजाब [पंजाब की नाट्यपरंपरा का अनुशीलन]

—डा० हरचरन सिंह

बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज, यूनिवर्सिटी आव लंदन, भाग १८, संख्या २, १९६५

इंडियाज फिलासफीज—इज प्रीसपोजिशंस ? [भारतीय दर्शन का तात्विक विवेचन]

—टुबिया जेलब्लम

द इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ३८, संख्या ४, दिसंबर १९६२

भट्टोत्पल : हिज डेट, लाइफ, ऐंड राइटिंग्ज [संस्कृत में ज्योतिष के सुप्रसिद्ध लेखक भट्टोत्पल के जीवनवृत्त, कालनिर्णय तथा उनकी रचनाओं का विवेचन]

—अजयमित्र शास्त्री

इंटरेस्टिंग कुषाण टेराकोटाज ऐंड स्कल्पचर्स फ्राम राजस्थान [राजस्थान की कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों तथा शिल्पकृतियों का परिचय]

— आर० सी० अग्रवाल

आन द हिस्टारिसिटी आव रामगुप्त [रामगुप्त की ऐतिहासिकता का विवेचन]

—निसार अहमद

वेदिक डीटीज : द मिस्ट्री बिहाइंड देयर मल्टिपुलनेस [वैदिक देवताओं की नामबहुलता का विवेचन]

—अमियकुमार चक्रवर्ती

प्लेस नेम्स इन वामनपुराण [वामनपुराण में आए भौगोलिक नामों की तालिका]

—शिवदास चौधरी

मुस्टैचिस—ए रेयर डिवाइस इन अर्ली इंडियन विष्णु ऐंड शिव इमेजेज [प्राचीन भारतीय मूछोंवाले विष्णु और शिव मूर्तियों का वर्णन]

—आर० सी० अग्रवाल

ए नोट आन द ब्रह्मदत्ताज आव काशी [काशी के प्राचीन राजा ब्रह्मदत्त की परंपरा का संक्षिप्त विवेचन]

—आर० बी० पांडेय

❁

समीक्षा

रससिद्धांत : अंतर्दर्शन[1]

समीक्षापद्धति

हिंदी साहित्य के वर्तमान श्रेष्ठतम आलोचकों में डा० नगेंद्र का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी आलोचनापद्धति को जिस रूप में पुष्ट और विकसित किया है उसमें साहित्यबोध, आलोचनसामर्थ्य और गंभीर अध्ययन की चेतना का अत्यंत स्वस्थ विकास लक्षित होता है। सौंदर्यबोध, विश्लेषणप्रतिभा, साहित्यिक सहृदयता और शास्त्रीय प्रज्ञा का संतुलित समन्वय उनकी आलोचनापद्धति का मूलाधार है।

पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के सिद्धांतभूत तत्वों का मंथन, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र की चेतना का प्रकाश और भारतीय काव्यशास्त्र की उपलब्धियों का समन्वय करते हुए उन्होंने साहित्यालोचन की समर्थ शैली का निदर्शन उपस्थित किया है।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ का उन्हीं के शब्दों में परिचय देते हुए कहा गया है—'पिछले ३० वर्षों में काव्य के मनन और चिंतन से मेरे मन में जो अंतःसंस्कार बनते रहे हैं उनकी संहति इस सिद्धांत में हो सकी है' और उनकी साहित्यसाधना का उत्तमांश 'रससिद्धांत' नामक प्रस्तुत ग्रंथ में परिणत है।

इस ग्रंथ में डा० नगेंद्र ने भारतीय रसशास्त्र का सैद्धांतिक और मूल रूप उपस्थित करने का सफल प्रयास किया है। उनकी सैद्धांतिक विवेचना का दृष्टिबोध मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र, उसकी अभिनवभारती टीका और लोचनकार की व्याख्या से युक्त ध्वन्यालोक का सैद्धांतिक पक्ष उपस्थित करना है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय साहित्यशास्त्र के रससिद्धांत का निरूपण करनेवाले प्रमुख आचार्यों की विवेचना को उन्होंने उपेक्षित किया है। उन्होंने संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय रससिद्धांत के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों के सैद्धांतिक पक्षों का

१. रससिद्धांत —लेखक, डा० नगेंद्र, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रकाशक—नैशनल पब्लिशिंग हाउस, २६-ए, जवाहरनगर, दिल्ली-६। पृ० संख्या ३६२ मूल्य रु० २०।

तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक मत भी उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त हिंदी, अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के भारतीय काव्यशास्त्र संबंधी अथवा रससिद्धांतनिरूपक ग्रंथों के मतसार का उद्धरण मात्र ही नहीं दिया है अपितु उनका यथावश्यक व्याख्यान और प्रत्याख्यान भी किया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की संदर्भसंपृक्त मान्यताओं को, तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थित करने के साथ साथ, आधुनिक मनोविज्ञान की प्रसंगानुकूल मान्यताओं और सिद्धांतों की वैज्ञानिक तुला पर रससिद्धांत को परखने का पूरी ईमानदारी के साथ प्रयत्न किया गया है। सब मिलाकर कह सकते हैं कि रससिद्धांत के विविध पक्षों को संस्कृत की शाहित्यशास्त्रीय दृष्टि से एवं तलस्पर्शी शैली में डा० नगेंद्र की आलोचक मनीषा ने साकार और स्पष्ट रूप में मूर्तिमंत किया है। साथ ही उसे काव्यालोचन की पाश्चात्य दृष्टि से भी विश्लेषित और मूल्यांकित करने का उन्होंने प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान की कसौटी पर रस के स्थायी भावों, सात्विक भावों आदि की स्वरूपानुभूति और बोधप्रक्रिया को कसने का जो प्रयास ग्रंथकार ने किया है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने बड़े ही व्यापक परिवेश में रससिद्धांत के विभिन्न पक्षों का स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। जिस आचार्य के जिस सिद्धांतपक्ष का उपन्यास किया गया है उसकी प्रमुख उपलब्धियों और भेदक विशेषताओं की सूत्रबद्ध विवृति भी उपस्थित की गई है। शास्त्रीय प्रज्ञा, सौंदर्यबोध की चेतना सिद्धांतनिरूपण की क्षमता और रसबोध की सहज प्रतिभा ने ग्रंथ के सैद्धांतिक पक्ष को बुद्धिग्राह्य और तर्कपुष्ट बना दिया है।

ग्रंथकार द्वारा निष्कर्षित सभी मान्यताएँ और उपलब्धियाँ पूर्णतः स्वीकार्य ही हों, ऐसी बात नहीं है। फिर भी लेखक ने जिस आलोचकोचित निःसंगभाव से प्रज्ञा के पथ पर चलने का प्रयास किया है, वह उच्च कोटि की आलोचकमनीषा का स्वरूप उपस्थित करता है। अतः विचारों, तर्कों और उपलब्धियों से मतभेद रखते हुए भी प्रस्तुत कृति का महत्व किसी प्रकार भी घटाया नहीं जा सकता।

आलोच्य कृति : अंतर्वीक्षण

छह अध्यायों के इस ग्रंथ में लेखक ने रस के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों का गंभीर अनुशीलन के साथ अध्ययन उपस्थित किया है। प्रथम अध्याय 'रस' शब्द और 'रस संप्रदायों' का ऐतिहासिक पक्ष सामने रखता है। 'रस' शब्द के ऐतिहासिक अर्थों का अनुमित विकासक्रम मनोवैज्ञानिक और अर्थवैकासिक क्रम से दिखाया गया है।

'रससंप्रदाय' का इतिवृत्त उपस्थित करते हुए लेखक ने संप्रदाय के उद्गम के संबंध में दो परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। डा० कीथ की कल्पना को मानते हुए शृंगारसूक्तों का आरंभिक स्रोत अथर्ववेद को माना गया है। अथर्ववेद के शृंगारपरक अभिचारमंत्रों में डा० नगेंद्र ने रस के मूल बीज की उद्भूति मानी है।

अपने इस मत का समर्थन उन्होंने 'रसानाथर्वणादपि' नाट्यशास्त्र के इस वचन से किया है। आगे चलकर लेखक का अनुमान है कि 'अथर्ववेद' के शृंगारपरक मंत्रों से रसपरंपरा का विकास—लौकिक प्रेमकथाओं से होता हुआ, कामसूत्रों तथा नाट्यकला से संबद्ध भरतपूर्ववर्ती आचार्यों से चलकर– भरत के नाट्यशास्त्र तक आया। 'रस' की विवेचना का उपलब्ध प्रथम ग्रंथ निश्चय ही 'नाट्यशास्त्र' है। उससे पूर्व भी नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों मे ही रसमिद्धांत का संकेत मिलता है। पर वे ग्रंथ अब तक अनुपलब्ध हैं।

इस प्रसंग में लेखक ने वाल्मीकि रामायण को रसदृष्टि का आदि लौकिक काव्य माननेवाले विद्वानों के मत को यह कहकर अस्वीकृत किया है कि रामायण और महाभारत दोनों ही नीति-धर्म-परक ग्रंथ थे। परंतु 'रसदृष्टि' का घनिष्ठ संबंध था आमोदप्रधान लौकिक प्रेमाख्यानों तथा कामसूत्र के साथ। अथर्ववेद की शृंगारी परंपरा की धारा लौकिक प्रेमाख्यानों में बहती रही। शास्त्रीय पक्ष से कामसूत्र में ही उसका अब तक उपलब्ध आधारस्रोत कहा जा सकता है।

यह अनुमान मात्र है, निश्चित मत का निर्धारण यहाँ संभव नहीं। फिर भी दो बातें विचारणीय हो सकती हैं। प्रथम यह कि वाल्मीकि रामायण को रसदृष्टि का आदिग्रंथ माननेवालों में 'अभिनवगुप्त' का भी नाम महत्वपूर्ण है जिन्होंने नाट्यशास्त्र की विस्तृत टीका लिखी है और जो भरत के उस मत से परिचित थे जिसके अनुसार नाट्यवेद नामक पंचम वेद में 'अथर्वण' से रसग्रहण बताया गया है। दूसरी बात यह है कि 'कौटिल्य' के अर्थशास्त्र का समय यदि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के पूर्व का है तो अर्थशास्त्र के अनेक अंश भी इस सिद्धांत के उद्गमबीज की परिकल्पना मे सहायक हो सकते हैं।

काव्यमीमांसा में पौराणिक शैली के क्रम में रसविवेचन का आरंभ शिव, ब्रह्मा और इंद्र से चलकर लोक में आचार्य नंदिकेश्वर तक पहुँचा है। लोक में उन्होंने ही उक्त परंपरानुसार 'रससिद्धांत' का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया। कीर्तिधर के आधारपर अभिनवगुप्त आदि में भी रसपक्ष का उल्लेख किया गया है।

इन सबका निष्कर्ष इतना ही है कि भरत के पूर्व भी रससंप्रदाय प्रचलित था। स्वयं भरत ने अनेक रूपों से इसका संकेत दिया है और अनेक स्थानों पर विभिन्न मतमतांतर उद्धृत किए गए हैं। 'आनुवंश्य' श्लोक भी इसी के समर्थक

है। पर इस संदर्भ में इतना ही कह सकते हैं कि भरत से पूर्व शास्त्रीय स्तर पर रस का निरूपण करनेवाला कोई ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। इसी कारण ग्रंथकार ने भरत के नाट्यशास्त्र से विवेचन आरंभ किया है।

प्रथम अध्याय के द्वितीय अंश में रससिद्धांत का इतिवृत्त बड़े ही विवेकपूर्वक क्रमबद्ध रूप में उपस्थित किया गया है।

इस प्रसंग में भरत का मत प्रस्तुत करते हुए उनकी रसदृष्टि का स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ, पर साथ ही संक्षेप में, सर्वांगीण रूप रखा गया है। नाट्यशास्त्र में बिखरी हुई नाना-संदर्भ-नियोजित रससामग्री का जो निरूपण हुआ है वह निश्चय ही ग्रंथकार का तत्वबोध सूचित करता है। इसमें रस को भरतमत से नाटक का प्राण बताया गया है। सूत्रधार और प्रेक्षक दोनों की दृष्टि से नाट्यसिद्धि के लिये जहाँ एक ओर 'भाव' और 'रस' प्रमुख स्थान रखते हैं, वहाँ दूसरी ओर नाट्य की प्रतिमा के घटक तत्वों में भी उन्हीं का प्राधान्य है। नाट्य के चार मुख्य अंगों (पाठ्य, अभिनय, संगीत और रस) में रस ही अन्य तीनों का नियंता है। फलतः नाट्य के उद्देश्यों में इसकी प्रधानता मानी गई है।

रससंप्रदाय का इतिवृत्त तीन चरणों में—(१) ध्वनिपूर्वकाल (रुद्रट तक), (२) ध्वनिकाल (आनंदवर्धन से भोजराज तक) तथा (३) ध्वनिपरवर्ती काल (मम्मट से पंडितराज जगन्नाथ तक) ग्रंथकार ने विभाजित किया है। प्रथम काल के अंतर्गत दो धाराओं का निर्देश हुआ है—(१) रसविरोधी धारा (जिसके समर्थक मम्मट, दंडी, वामन, उद्भट और रुद्रट आदि बताए गए हैं) और (२) रसवादी (या रससमर्थक) धारा। यह दूसरी धारा मुख्यतः नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार 'भट्टलोल्लट' 'शंकुक' प्रभृति तथा 'रुद्रभट्ट' आदि की थी। यहाँ जिस धारा को 'रसविरोधी' कहा गया है उसे काव्य में (मुख्यतः श्रव्य काव्य में) 'रस को सर्वप्रमुख तत्व न माननेवाला' कहना अधिक संगत है। जिन 'भामह' को पहला रसविरोधी आचार्य कहा गया है उसके विषय में स्वयं लेखक कहता है 'भामह रसवर्णन की उपेक्षा कर सकते थे परंतु रस का बहिष्कार करना संभव नहीं था।' लेखक का कहना है कि 'भामह' काव्य को शब्दार्थरूप मानकर चले हैं और अलंकारयुक्त शब्दार्थ को वे काव्य मानते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अर्थ की परिधि में आनेवाले रसभाव भी अर्थरूप ही हैं। परंतु उनका अलंकृत होना अनिवार्य है। रसादिरूप अर्थ को भी वे अलंकार का ही एक रूप मानकर काव्य का उपजीव्य स्वीकार करते हैं। अतः इस धारा के सभी आचार्यों में रस के प्रति कोई विरोधी भाव नहीं है। वे केवल रस की प्राणतत्वता और मुख्यता नहीं मानते। स्वयं आनंदवर्धन और उनके अनुयायी भी ध्वनि को काव्यात्मा घोषित करते हुए अव्यंग्य, पर अलंकारयुक्त, काव्य को भी काव्य का एक रूप तो

स्वीकार करते ही हैं। वह अव्यंग्य काव्य भले ही तृतीय कोटि का काव्य हो पर वह भी काव्य ही कहा गया है। रस के विषय में दंडी अधिक उदार हैं और वामन ने भी किसी न किसी रूप में रसभावादि की सत्ता को (गौण रूप में ही सही) स्वीकार कर लिया है। उद्‌भट की नाट्यशास्त्रीय व्याख्या अनुपलब्ध है। अतः वे रस को चाहे वस्तुनिष्ठ ही मानते रहे हों, उसके विरोधी नहीं थे। रुद्रट ने अलंकारवादी परंपरा का अनुसरण करते हुए भी चार अध्यायों में स्वतंत्र रूप से रसविवेचन किया है। फलतः रस की महत्ता को वे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। संभवतः उन्हीं के रसाध्यायों की व्याख्या के रूप में रुद्रभट्ट ने 'नैव काव्ये रसाः स्मृताः' – का उद्‌घोष किया है।

रसवादी धारा में 'भट्टलोल्लट' आदि आचार्यों के ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। भट्टतोत की स्थिति भी यही है। आनंदवर्धन के पूर्व का केवल रुद्रभट्ट का ही रसवादी ग्रंथ शृंगारतिलक आज प्राप्त है। हिंदी के उत्तरमध्यकालीन रीतिग्रंथों के अंतिम छोर तक उस प्रेरणा की प्रभावपरंपरा चलती रही, श्रव्यकाव्य और अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में रुद्रभट्ट ने जिसे सर्वप्रथम स्फूर्ति प्रदान की थी।

ध्वनिकाल को लेखक ने रससिद्धांत को स्वर्णयुग कहा है। इसके अंतर्गत आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, भट्टनायक, भट्टतोत, धनिक, धनंजय, क्षेमेंद्र, भोजराज, आदि आते हैं। ध्वनिसिद्धांत की उपलब्धि इस युग की मुख्य देन है। लेखक ने अपने आलोच्य ग्रंथ में इस युग की मुख्य प्रवृत्तियों का बड़ी स्पष्टता से प्रज्ञासंमत विवेचन किया है। उन्होंने ध्वनिकाल को (१) रसवादी, (२) समन्वयवादी और (३) स्वतंत्र, इन तीन धाराओं में विभक्त किया है तथा तत्संबद्ध आचार्यों के दृष्टिपक्षों का तुलनात्मक विश्लेषण के साथ निरूपण भी किया है। रसवादी धारा में प्रत्यक्ष रसवादी भट्टनायक, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, धनंजय, 'धनिक' और महिमभट्ट आदि हैं। अप्रत्यक्ष रसवादी धारा के अंतर्गत आनंदवर्धन, क्षेमेंद्र आदि का मतसार निरूपित किया गया है। यह प्रकरण जिस शास्त्रीय स्तर की ऊँचाई व्यक्त करता है उससे डा० नगेंद्र की मर्मग्राहकता का भव्य परिचय मिलता है। इस संदर्भ में लेखक ने औचित्यवादी 'क्षेमेंद्र', समन्वयवादी भोजराज, ध्वनिवादी आनंदवर्धन, और वक्रोक्तिवादी कुंतक के पक्षों का जैसा शास्त्रीय विवेचन किया है और उन्हें विश्लेषित रूप में जिस स्पष्टता के साथ सामने रखा है वैसा हिंदी अँग्रेजी के आलोचना ग्रंथों में कम ही उपलब्ध है। ऐसी ही मर्मज्ञता का आगे भी अनेक प्रसंगों में डा० नगेंद्र की लेखनी ने परिचय दिया है।

इसका अर्थ यह नहीं कि उनके सभी निष्कर्ष और सभी स्थापनाएँ सर्वथा मान्य हैं। कुछ प्रत्याख्येय भी हैं और कुछ मतभेद भी। उदाहरण के लिये भट्ट-

नायक को असंदिग्ध रूप से शैव आनंदवादी निर्धारित किया गया है। यह सही है कि भट्टनायक की दृष्टि साधारणीकरण के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ मतों की मध्यवर्ती है और अधिक व्यावहारिक भी, फिर भी, उनका भोज्यभोजकवाद शैव आनंदवाद का ही एकांततः अनुगामी सिद्धांत है, यह सर्वथा असंदिग्ध रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकता। विस्तार में न जाकर इतना ही कहना यहाँ पर्याप्त है कि शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उनका भोगवाद या भावकतावाद मीमांसकों की दार्शनिक मान्यता के अत्यंत निकट है। भावना शब्द और अर्थ संभवतः मीमांसादर्शन से यहाँ लिए गए हैं। अतः डा० नगेंद्र की स्थापना सर्वमान्य नहीं हो सकती। परंतु ऐसे अन्य मतभेदों के रहने पर भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माता ने अपने अध्ययन की जो उपलब्धियाँ उपस्थित की हैं वे अपने आपमें तर्कपुष्ट और असंगतिहीन हैं।

रस : आस्वाद्य या आस्वाद

प्रस्तुत ग्रंथ के दो अध्याय, (२) और (३), अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। दूसरे अध्याय में विषयगत और विषयिगत रस की परिभाषा दी गई है। विषयगत रसदृष्टि के अनुसार रस आस्वाद्य होता है। वह अनुभूति का विषय है। वस्तुतः रमणीय भावमूलक स्थिति ही रस है। दूसरे शब्दों में, नाट्यसौंदर्य के माध्यम से स्थायी (भाव) की उपस्थिति रस है।

इस मत के प्रवर्तक भरत हैं। इसका स्वरूप उनके रसविवेचन में मिल जाता है। ध्वनिपूर्वकाल के अलंकारवादियों ने थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ रस को विषयगत और आस्वाद्यरूप माना है।

शैवाद्वैतवादी अभिनवगुप्त ने अपने दार्शनिक सिद्धांत के अनुरूप रस को विषयिगत भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। आलोच्य ग्रंथकार ने इस पक्ष को तर्कपुष्ट ढंग से सामने रखा है। उनके अनुसार रस का अर्थ है आनंद और आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। विषय तो आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रमाता को संविद्विश्रांति का लाभ होता है। यह संविद्विश्रांत ही आनंद है। तात्पर्य यह है कि जब प्रमाता वीतविघ्न और वेद्यांतरसंपर्कशून्य आत्मविश्रांतमयी आनंदचेतना में पूर्णतः निमग्न और तन्मय हो उठता है तब उसी तन्मयीभूत भावभूमिका की आत्मविश्रांतिमयी आनंदचेतना को रस कहा जाता है।

इस पक्ष में रस आस्वाद्य नहीं, आस्वाद है। वह आनंदस्वरूप है, ज्ञान या चेतनास्वरूप है और वही स्थितिविशेष में आत्मस्वरूप भी हो उठता है। इस पक्ष के अनुसार आस्वाद, आनंद, चेतना और तद्रूप आत्मा में पार्थक्य या

भेद नहीं रह जाता। वह (रस) अनुभूति का विषय और आस्वाद का विषय न होकर रसमय अनुभूतिरूप और आस्वादरूप प्रमाता की रसचेतना है और साथ ही तदभिन्न चेतनारूप आत्मा भी है। अतः रस विषयगत नहीं, विषयिगत है; वस्तुरूप नहीं, आत्मस्थानीय है।

इस मत का अनुसरण अभिनवगुप्त के परवर्ती प्रायः अधिकांश आचार्यों ने किया है। पंडितराज जगन्नाथ तक यह मत पर्याप्त प्रचलित रहा और बाद में भी उक्त परंपरा चलती रही।

प्रस्तुत ग्रंथ में यह पक्ष स्पष्टता और गहराई के साथ विश्लेषित है। इस विवेचना से सिद्धांत और स्वरूप दोनों ही पाठक के समक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो उठते हैं। तीसरा अर्थ भी (सामान्य काव्यसौंदर्य) बताया गया है। रस का स्वरूप निरूपित करते हुए बताया गया है कि विषयगत रस के रूप का मतप्रवाह अभिनवगुप्त तक पहुँचकर रुक गया और अभिनव द्वारा प्रतिपादित आस्वादपरक पक्ष ही आगे मान्य और प्रचलित हुआ। आस्वादपरक स्वरूप का निरूपण डा० नगेंद्र ने काफी विस्तार और गहराई के साथ किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अभिनवगुप्त, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ, तीनों की दृष्टि से स्पष्ट व्याख्या उपस्थित की है। इन समस्त विवरणों और व्याख्यानों में निष्कर्ष-सूत्रों द्वारा आधुनिक आलोचना की पदावली में प्राचीन सिद्धांतों का प्रस्तुतीकरण ग्रंथकार की अपनी विशेषता है। क्रमबद्ध निष्कर्षसूत्रों का विवेचन और तटस्थ भाव से उनका परीक्षण करते हुए ग्रंथकार ने मतप्रतिपादन की अत्यंत प्रौढ़ शैली सामने रखी है सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने एक ओर तो भारतीय आचार्यों के पक्षों और दृष्टियों को आस्था और ईमानदारी के साथ उपस्थित किया है, दूसरी ओर मनोविज्ञान के शास्त्रीय बोध और पाश्चात्य आलोचना की नूतन चेतना के आलोक में भी उन मतों का निरीक्षण और मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं :

'संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के अनुसार शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भावभूमिका में आत्मचैतन्य के (आनंदमय) आस्वाद का नाम रस है.'

× × × ×

'आज ये प्रायः सभी स्थापनाएँ विवादास्पद हैं। रस के उपर्युक्त स्वरूप से तीन मौलिक प्रश्न उठते हैं—

(१) भावानुभूति और रसानुभूति का क्या संबंध है ?

(२) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है ?

(३) यदि है, तो इस आनंद का स्वरूप क्या है ?

इनके समाधान के बिना आज के काव्यजिज्ञासु का परितोष नहीं हो सकता; अतः आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रकाश में इनका विवेचन करना अनिवार्य है।'

शास्त्रीय स्थापनाओं को निर्भीक भाव से विवादास्पद कहते हुए जिन तीन मौलिक प्रश्नों को उठाकर आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रकाश में परखने की बात लेखक ने कही है उनका भी विश्लेषण और परीक्षण किया गया है। क्रमशः लेखक के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं :

(१) भाव पर आश्रित होते हुए भी रस भावानुभूति से भिन्न है।

(२) दूसरे प्रश्न के संबंध में अत्यंत विस्तार से भारत और यूरोप के काव्यालोचकों (प्राचीन और आधुनिक) के मतसार के प्रकाश में विविध दृष्टियों का विस्तारसे परिशीलन किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, ललितकला-शास्त्र और आलोचनाशास्त्र की प्रमुख दृष्टियों से भी यह परखने का प्रयास हुआ है कि क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है? मनोवैज्ञानिक दृष्टि को भी प्रस्तुत विश्लेषण में अपनाने की चेष्टा हुई है। समर्थ तर्कों और बुद्धिसंमत वक्तव्यों द्वारा निष्कर्ष उपस्थित किया गया है : 'रस की अनुभूति प्रतिकार ही है। वह आनंदमयी चेतना ही है, विवाद शाब्दिक ही है, तार्किक नहीं।'

(३) तीसरे प्रश्न के संदर्भ में इसी प्रकार आनंद के ऐंद्रिय, रागात्मक, बौद्धिक (तीनो मौतिक) और आध्यात्मिक—इन चतुर्विध रूपों की भारतीय आलंकारिकों, और पाश्चात्य आलोचकों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों के मतप्रकाश को लेकर विवेचनक्रम से निष्कर्ष निकाला गया है। कहा गया है - 'यह वास्तव में एक प्रकार का समंजित आस्वाद है जिसमें ऐंद्रिय, रागात्मक और बौद्धिक तत्वों का लवण-नीर-संयोग रहता है।' 'काव्य की अनुभूति या आनंद संवेदनरूप ही है। परंतु ये संवेदन स्थूल एवं प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म एवं प्रतिबिंब-रूप होते हैं।'····'इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिये तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐंद्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐंद्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती; और इसीलिये वह पहले से अधिक शुद्ध, परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरल होती है।'

करुण रस और सुखास्वाद

इस अध्याय के अगले अंश में करुण रस के आस्वाद पर भारतीय साहित्य-शास्त्र के आचार्यों का मत उपस्थित किया गया है और उक्त रस के सुखात्मक एवं

दुःखात्मक स्वरूप को सप्रमाण उद्धृत किया गया है। इतना ही नहीं, यूरोप के साहित्यालोचकों की स्वीकृत दृष्टियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं। प्लेटो से लेकर रिचर्ड्स तक के मुख्य मुख्य आलोचकों और दार्शनिकों के विचार सूत्ररूप में बताने की चेष्टा की गई है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पक्ष का भी विश्लेषण किया गया है।

रस के आनंदस्वरूप की विवेचना करते हुए शुक्ल जी के मत से यह बताया गया है कि —'हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।' उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य में प्रस्तुत विषय का साक्षात्कार व्यक्तित्व संबंध से मुक्त होता है। उसका ग्रहण योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा न होकर निरुपाधि, निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा होता है। उस अवस्था में अहं का विसर्जन और निस्संगता रहती है। शुक्ल जी कहते हैं —'इसी को चाहे लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद का सहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।' शुक्ल जी के मत से उपर्युक्त कथन के आधार पर करुण रस का अनुभव भी कायमनःक्लेशी सुखदुःखानुभूति से भिन्न ऐसी मुक्तावस्था है जो क्षोभकारी लौकिक सुख दुःख की अपेक्षा अत्यंत उदात्त और अवदात भी है। डा॰ नगेंद्र जिसे काव्य से प्राप्त सूक्ष्म बिंबरूप संवेदन कहते हैं और जिसमें सामंजस्य और अन्विति की स्थिति मानते हैं वह अवस्था भी शुक्ल जी द्वारा कथित निस्संगता की अवस्था का ही एक स्वरूप है। उपकरणरूप में शुक्ल जी भी करुणादि रस में सुखसंपृक्ति मानते हैं और डा॰ नगेंद्र भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम बिंबबोध की लघुचेतना का संपर्क स्वीकार करते हैं। भेद में अभेदबुद्धि जिस प्रकार दुःखांशी उपकरण के अति सूक्ष्म बन जाने पर अभेद और अन्विति की सुखचेतना बन जाती है, उसी प्रकार शुक्ल जी का असंगतामूलक और विभावन व्यापार से अन्य भूमिकाचारी अनुभव भी दुःखाभावमय सुखरूप प्रत्यासत्ति का रूप धारण करता है। इस प्रसंग में शुक्ल जी का भी वही फलितार्थ है जिसे डा॰ नगेंद्र, स्वांतःसमाधानपरक मत कहते हैं। फलतः ग्रंथकार द्वारा शुक्लमत का प्रत्याख्यान शाब्दिक ही है, तात्विक नहीं।

इस संदर्भ में एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। शुक्ल जी ने प्राचीन रसमत का समर्थनमात्र नहीं किया है, अपितु उक्त सिद्धांत की नवीन व्याख्या भी की है और उसका नूतन परिष्कार भी किया है। स्वयं डा॰ नगेंद्र ने भी उनके मत को मौलिक चिंतन बताया है। अतः शास्त्रीय स्तर पर शुक्ल जी का दृष्टिभेद वस्तुतः उनकी आलोचनप्रज्ञा द्वारा नूतन मतप्रवर्तन है। अतः वह नई परिकल्पना है; त्रुटिपूर्ण पुरातन पक्ष नहीं।

रसनिष्पत्ति

तृतीय अध्याय में रस की निष्पत्ति का लेखक द्वारा विवेचन अत्यंत प्रौढ़ होने के साथ साथ प्रामाणिक और गंभीर अंतर्दृष्टि का परिचायक है। ४४ पृष्ठों में

लेखक ने भरत के रससूत्र की शास्त्रीय व्याख्या की है। आगे चलकर लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त, इन चार व्याख्याकारों के मतों का लेखक ने शास्त्रीय और विश्लेषणात्मक विवेचन किया है। इस निरूपण में भट्टलोल्लट के पक्ष का भाष्यात्मक व्याख्यान ग्रंथकार की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अभिनवगुप्त और मम्मट के ग्रंथों में लोल्लटमत के उद्धरणों को आधार मानकर विवेचना की गई है। प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों प्रकार के व्याख्याकारों की व्याख्यादृष्टि से समस्त पक्षों का मूल्यांकन किया गया है। इस विवेचन का महत्व यह है कि लेखक ने शास्त्रीय बोध की प्रामाणिक चेतना को प्रस्तुत करने के साथ साथ आधुनिक मनोविज्ञान और आलोचनाशास्त्र की प्रौढ़ पदावली एवं अभिव्यक्ति शैली का पूर्ण परिचय दिया है।

रसव्याख्या

लेखक ने इस विवेचन मे यहाँ और आगे भी इन आचार्यों के मतों की सीमा और शक्ति का विवेचन किया है, लोल्लट मत के सबल दुर्बल, उभय पक्षों का स्वरूप सामने रखा है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि भट्टलोल्लट के मत से भरतसूत्र में प्रयुक्त रसनिष्पादक संयोग उत्पाद्य-उत्पादक गम्य-गमक पोष्य-पोषक संबंध हैं, अर्थात् उपचेय-उपचायक संबंध। लोल्लट के विवेचन की दार्शनिक दृष्टि को असंदिग्ध रूप में वे निर्णीत नहीं मानते। इसी प्रकार शंकुक के मत का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। उनके मत से रस का आधार नट को बताया है। रस भाव पर आश्रित ऐसी कलात्मक स्थिति है जिसमें अभिनयतत्व की प्रधानता और काव्यतत्व की गौणता है। यह मत भी भरतसंमत अर्थ के निकट है क्योंकि इसमें रस को अनुभूतिरूप न मानकर स्थितिरूप माना गया।

भट्टनायक की देन

रससिद्धात के विकास में भट्टनायक का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने ही सबसे पहले निर्भ्रांत रूप में रस का विवेचन किया। उन्होंने आत्म-विश्राति तथा साधरणीकरण द्वारा करुणादि रस को भी आनंदरूप सिद्ध किया है। 'साधरणीकरण' का सिद्धात उनकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। लेखक के शब्दों में उक्त सिद्धांत के द्वारा भट्टनायक ने भारतीय आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त की : "मेरी धारणा है कि विश्व के आलोचनाशास्त्र में भट्टनायक से पूर्व किसी आलोचक ने इस मूल प्रश्न का ऐसा प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत नहीं किया।"

\+ \+ \+

इस अध्याय का 'ख' अंश 'रस का स्थान' निरूपित करता है। इसमें लेखक ने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाकर शास्त्रीय और आधुनिक आलोचना-शैली में उनका समाधान किया है। लेखक का कथन है : "शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य है और उसका आनंदमय आस्वाद रस है"; अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त भाव के आनंदमय आस्वाद का नाम रस है। निश्चय ही यह आस्वाद विषयगत न होकर विषयिगत है, क्योंकि यह तो आस्वादयिता की ही अनुभूति है। लेखक कहता है, "अभिनव को यह सम्यक् रूप से ज्ञात था कि काव्यगत भाव का मूल आधार है कवि का अंतर्गत भाव।" ···"कवि का अंतर्गत भाव कविगत रस की ओर संकेत करता है जो काव्यरस का मूल है।···और उसका अनुसंधान कर लेने पर रस की स्थिति की समस्या हल हो जाती है।"

आस्वादन

डा० नगेंद्र ने काव्य के आस्वादन से संबद्ध तीन मूल सत्ताओं को लेकर—अर्थात् कवि, वस्तु और सहृदय की परिधि में—आधुनिक आलोचना, मनोविज्ञान और सौंदर्यबोध के दृष्टिकोण से विचार करते हुए गहराई से नाना पक्षों पर विचार किया है। उसका निष्कर्ष है काव्य पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है, उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की 'अस्मिता' का आस्वादन है। परंतु यह तभी संभव है जब कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं अपनी अस्मिता का रस ले सका हो। नाटक में नट नटी के विषय में भी यह सत्य मानना पड़ेगा। ग्रंथकार ने उदाहरण द्वारा इस पक्ष को और स्पष्ट किया है।

साधारणीकरण

इस अध्याय का तृतीय अंश 'साधारणीकरण' के प्रसंग का विवेचन है। इस संदर्भ में लेखक ने आरंभ में भट्टनायक के मूल मत और अभिनवगुप्त के सपरिष्कार पक्ष का निरूपण किया है। साहित्यदर्पण और रसगंगाधर में विवृत मतदृष्टि से भी वह विवेचित है। आगे चलकर लेखक ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के एतद्विषयक सिद्धांत का पक्ष बड़ी ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। लेखक मानता है कि शुक्ल जी का मत भारतीय काव्यशास्त्रविषयक अनुसंधान का अंग न होकर स्वतंत्र चिंतन का ही परिणाम है और उस चिंतन की दृष्टि अतीत पर स्थिर न होकर वर्तमान पर है। उसका प्रतिपादन शुक्ल जी ने स्व-अभिमत लोकधर्म सिद्धांत के समर्थन में उद्धृत और व्याख्यात किया है। अतः उनका साधारणीकरण सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतपक्ष का प्रतिपादन नहीं है, नवीन व्याख्या है। डा० नगेंद्र इसी रूप में उसका मूल्यांकन करते हैं।

इस अध्याय के अंत में कवि की अनुभूति का साधारणीकरण किस रूप में होता है, इसपर भी प्रकाश डाला गया है।

भाव : अभिधेय और व्याप्ति

चतुर्थ अध्याय के 'क' अंश में भावों का विवेचन किया गया है। भरत से आरंभ करके संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव शब्द के प्रयोग का निर्धारण करते हुए बताया गया है कि सामान्यतः स्थायी और संचारी के लिये 'भाव' शब्द प्रयुक्त है। यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उसका अर्थ लौकिक मनोविकारों से भिन्न काव्यगत मनोविकार ही निश्चित रूप से स्वीकृत है, तथापि उसके आधार लौकिक मनोविकार ही हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विवेचन के आधार पर भावों के अस्तित्व अनस्तित्व और उनके मानसिक एवं शारीरिक रूपों तथा क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर विचार उपस्थित किए गए हैं। साथ ही संस्कृत काव्यशास्त्रीय स्वरूप से इतर, मनोवैज्ञानिकी दृष्टि से मौलिक, व्युत्पन्न और मिश्रित मनोविकार के रूप में उनका स्वरूप समझाने की चेष्टा हुई है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में केवल 'अरस्तू' ने भावों का जो थोड़ा बहुत स्वरूपांकन किया है, उसकी 'भरत' और अभिनव की मान्यताओं के संदर्भ में तुलना भी की गई है।

भावों के संख्यानिर्धारण में मैकडुगल के विचारों और उनके द्वारा विभिन्न स्तरों पर स्वीकृत और संशोधित धाराओं के अनुरूप मूल वृत्तियों और सहवर्ती मनोवेगों का विचार किया गया है। नव्य मनोविज्ञानवेत्ता रेनल्ड फ्लैचर के मत का आधार लेकर, भारतीय काव्यशास्त्र के स्थायी भावों की संख्या का निर्धारण सर्वथा निराधार नहीं माना जा सकता है, यह भी दिखाया गया है। इसी प्रकार का विवेचन संचारी भावों के संबंध में भी है।

इस संदर्भ में अनेक शंकाएँ भी अंकुरित होती और हुई हैं। इनका भी संक्षिप्त विवेचन इस प्रकरण के अंत में किया गया है। निष्कर्ष रूप में लेखक ने साहस के साथ कहा है : "संचारियों का विवेचन कम से कम यथावत् (संख्या और स्वरूप की दृष्टि से) स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता।'

रससंख्या

'ख' अंश में रससंख्या पर लेखक ने काफी विस्तार से विचार किया है। भारतीय परंपरा में 'नवरस' की स्वीकृति सर्वाधिक मान्य और प्राप्त है। संभवतः भरतकाल में ही या उससे भी पूर्व रससंख्या की मान्यता में मतभेद था। 'रुद्रट' ने एक और प्रेयान् रस जोड़ने का यत्न किया। पर वह मान्य नहीं हुआ। 'भोज' के ग्रंथों में प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रसों का भी अभिवर्धन हुआ है। रामचंद्र गुणचंद्र ने व्यसन, दुःख और सुख, इन तीनों की संख्या और

बढ़ाई। भानु मिश्र ने वात्सल्य, लौल्य और भक्ति के अतिरिक्त कार्पण्य और माया नामक रसों को बढ़ाया। इन सबकी चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ में संक्षेप से मध्ययुगीन, रीतिकालीन ग्रंथकारों और भारतीय भाषाओं के आधुनिक आचार्यों के प्रमुख विचारों का संक्षिप्त मतसार और उनके रसनिष्ठ उपभेदों की भी चर्चा की गई है।

मूलरस : एक

एक मूलरस की कल्पना को लेकर और भवभूति के 'एको रसः करुण एव' से आरंभ कर लेखक ने काफी स्वच्छ विवेचन किया है। मूलरस के रूप में शांत रस की अभिनवगुप्त द्वारा की गई स्थापना का भी संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। भोज और अग्निपुराण के शृंगार की मूलरसता की, जो अलंकार या अहं-वृत्ति-संभूत है, चर्चा की गई है। इस संदर्भ में केशव, चिंतामणि आदि की विवेचना का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अद्भुतरस को भी एकमात्र मूल रस नारायण पंडित ने चमत्कारसारता के आधार पर माना है। यहाँ एक और बात विचारणीय है। आजकल के व्यवहार में चमत्कार का जो अर्थ प्रचलित है उसी को पकड़कर चमत्कारवादी मान्यता की आचार्य शुक्ल ने काफी खिल्ली उड़ाई है। परंतु जैसा डा० नगेंद्र ने दिखाया है, चमत्कार शब्द भारतीय साहित्यशास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द है। उसका संबंध जादूगरी या हाथ की सफाई से चौंकानेवाला न होकर लोकविलक्षण अनुभूतिबोध को सूचित करनेवाला है। अभिनव ने विघ्नरहित अर्थात् वीतविघ्न संवित्ति अर्थात् आंतरिक संवेदना अथवा आत्मप्रतीति को चमत्कार बताया है। यह संविति, आत्मा के आनंदमय आस्वादनरूप की अबाधित प्रतिपत्ति है जो साधारणीकरण के तथाकथित लोकोत्तरसंवेद से अभिन्न है और जिसमें समस्त इतर वेद्य विगलित हो जाते हैं। उसे ही अभिनवगुप्त और मम्मट ने चमत्कारैकसार या चमत्कारैकप्राण बताया है। शुक्ल जी की भावुकताजन्य उक्त भ्रांति का यह निवारण बहुत ही स्वाभाविक है।

भक्तिरसवादियों के अनुसार भक्ति ही मूलरस है। इसका विस्तार 'मुक्तिबोध', 'भगवद्भक्तिरसायन' और गौड़ीय कृष्णभक्तों के संबद्ध ग्रंथों में मिलता है। इसी को भक्तों ने अप्राकृत रस का नाम देकर मूलरस कहा है।

अन्य प्रश्न : समाधान : मूल्यांकन

पंचम अध्याय के चार उपप्रकरणों में क्रमशः (१) रसों का परस्पर संबंध, (२) अंगी रस, (३) रसविघ्न (सामान्य-रस-दोष, प्रबंध-रस-दोष आदि) का, जिसे रसभंग भी कहा गया है, कवि की दृष्टि से तथा सहृदय की दृष्टि से भी विचार किया गया है और (४) रसाभास का शास्त्रीय परिचय प्रस्तुत हुआ है।

छठा अध्याय वस्तुतः उपसंहारात्मक है। यहाँ रस की शक्ति और सीमा के परिप्रेक्ष्य में ग्रंथकार ने आकलनात्मक पक्ष के साथ साथ उक्त सिद्धांत का मूल्यांकन भी किया है। 'रस तथा भारतीय काव्यसिद्धांत' उपशीर्षक के अंतर्गत भारतीय दृष्टि का आकलनात्मक रूप से संक्षिप्त संकलन हुआ है; इसी प्रकार 'रस तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विभिन्न वाद' उपशीर्षक के अंतर्गत अनेक पाश्चात्य काव्यसिद्धांतों के साथ रसवाद की संगति या विसंगति दिखाने का क्रमिक रूप में प्रयास किया गया है। यहाँ अनेक वादों की संक्षिप्त, पर सारगर्भित समीक्षात्मक व्याख्या के प्रकाश में रसदृष्टि को समझने का प्रयत्न लक्षित होता है। 'रस तथा विभिन्न काव्यमूल्य' उपशीर्षक के अंतर्गत आधुनिक दृष्टि से प्राच्य मान्यताओं के प्रकाश में रसदृष्टि का मूल्यांकन किया गया है। ग्रंथकार ने इस अध्याय मे कुछ उसी प्रकार रससिद्धांत की व्यापकता और अधिकाधिक संगतिशीलता दिखाने का मार्ग अपनाया है जो प्राचीन आचार्यों की पद्धति रही है। उस पद्धति में आग्रह और बुद्धिकौशल के साथ इतर तत्वों को स्वीकृत तत्वों के अंतर्गत समाविष्ट दिखाया जाता है। कुछ उसी प्रकार के उत्साह और आग्रह से डाक्टर साहब इस आलोचक-कर्म में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं।

'रससिद्धांत के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान' शीर्षक के अंतर्गत उक्त पद्धति से प्रयास किया गया है और आग्रहपूर्ण तर्कों से समाधान करने की चेष्टा की गई है। यहाँ भी लेखक के व्यापक अध्ययन और अनुशीलन तथा गंभीर मनन और चिंतन की परिणति दिखाई देती है। विवेच्य विषय के यथार्थ रूप को ग्रहण करने की जिस प्रज्ञा का स्वरूप आचार्य शुक्ल की समीक्षा में लक्षित हुआ है और विषय के संबंध मे जैसी पैठ और पकड़ शुक्ल जी के निबंधों और ग्रंथों में दिखाई पड़ती है, वैसी पकड़, पैठ, गहराई और अभिव्यक्ति की स्पष्टता हिंदी के अंगुलिगण्य आलोचकों में विकसित हो पाई है। डा० नगेंद्र निश्चय ही उसी शृंखला के आलोचकों में अन्यतम समीक्षक हैं और उनका यह ग्रंथ असंदिग्ध रूप से महनीय कृति है। पुस्तक का मुद्रण और प्रकाशन अत्यंत शुद्ध, सुंदर तथा आकर्षक है एवं तदर्थ प्रकाशक भी धन्यवादार्ह हैं।

करुणापति त्रिपाठी

वार्षिक विषयसूची

निबंध

पौराणिकी

विमर्श

सभा के कुछ कोश —

लघुतर हिंदी शब्दसागर—संपा० पं० करुणापति त्रिपाठी । मूल्य ३.००
लघु हिंदी शब्दसागर—संपा० पं० करुणापति त्रिपाठी । मूल्य ११.००
संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर—संपा० श्री रामचंद्र वर्मा । मूल्य १८.००

हिंदी शब्दसागर—संपूर्ण कोश १० खंडों में पूर्ण करने की योजना है। इसका प्रथम खंड प्रायः प्रकाशित हो गया है। दूसरा खंड प्रेस में है। ... है।

मूल्य प्र...

हिंदी विश्वको... ...श
१० भाग... ...त
हो चुके... ...भ
ही प्रका... ...र
विशेष ...

१. ना...
२. ल...
३. म...
४. क...
५. ल...
६. हि...
७. हि...